वर्ष 39, अंक-5, सितंबर-अक्टूबर, 2016

गगनांचल

साहित्य कला एवं संस्कृति का संगम

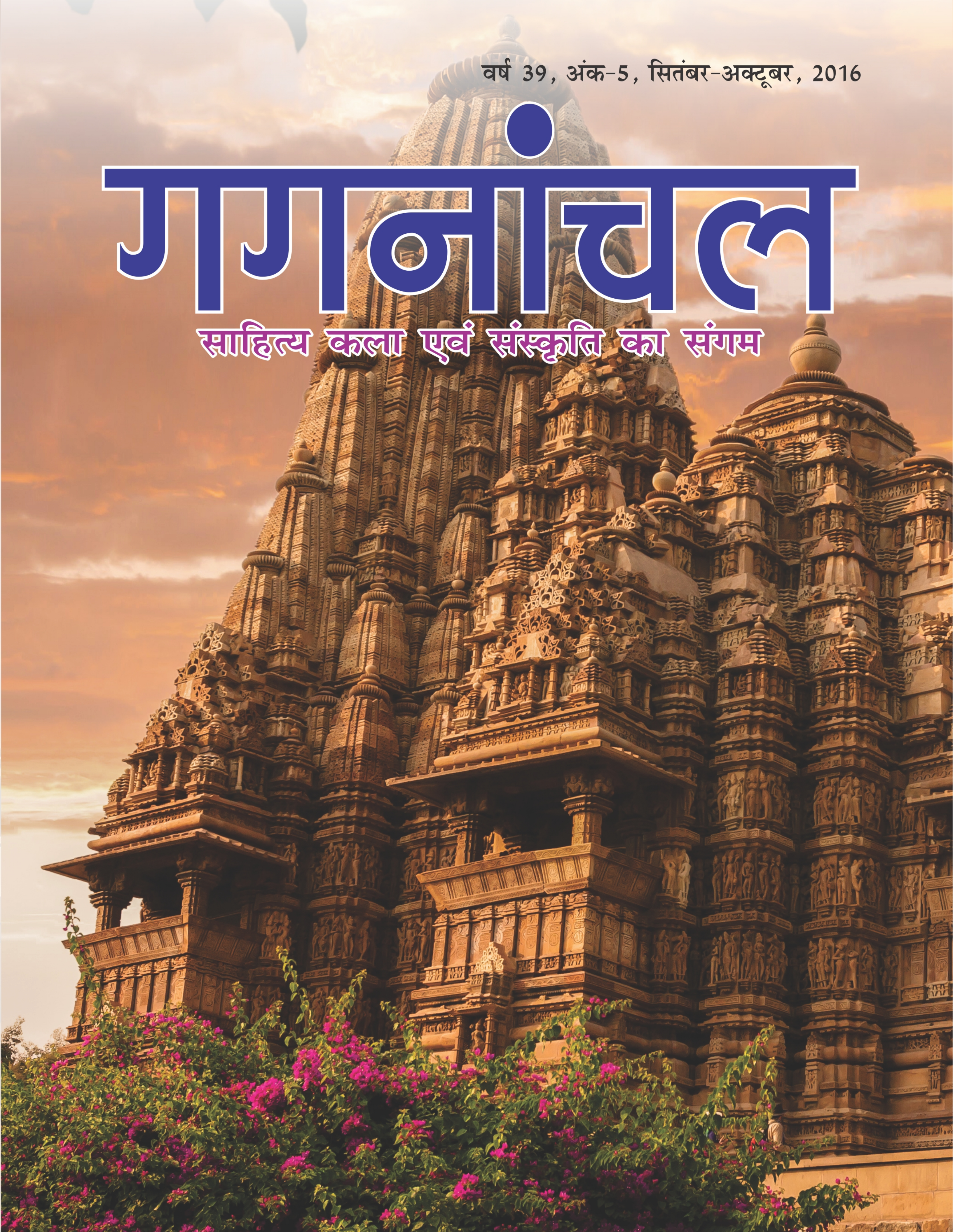

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् की स्थापना, सन् 1950 में स्वतंत्र भारत के प्रथम शिक्षा मंत्री मौलाना अबुल कलाम आज़ाद द्वारा की गई थी। तब से अब तक, हम भारत में लोकतंत्र की दृढ़ीकरण, न्यायसंगत सामाजिक व्यवस्था की स्थापना, अर्थव्यवस्था का तीव्र विकास, महिलाओं का सशक्तीकरण, विश्व-स्तरीय शैक्षणिक संस्थाओं का सृजन और वैज्ञानिक परम्पराओं का पुनरुज्जीवन देख चुके हैं। भारत की पांच सहस्त्राब्दि पुरानी संस्कृति का नवजागरण, पुनः स्थापना एवं नवीनीकरण हो रहा है, जिसका आभास हमें भारतीय भाषाओं की सक्रिय प्रोन्नति, प्रगति एवं प्रयोग में और सिनेमा के व्यापक प्रभाव में मिलता है। भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्, विकास के इन आयामों से समन्वय रखते हुए, समकालीन भारत के साथ कदम से कदम मिला कर चल रही है।

पिछले पांच दशक, भारत के लम्बे इतिहास में, कला के दृष्टिकोण से सर्वाधिक उत्साहवर्द्धक रहे हैं। भारतीय साहित्य, संगीत व नृत्य, चित्रकला, मूर्तिकला व शिल्प और नाट्यकला तथा फिल्म, प्रत्येक में अभूतपूर्व सृजन हो रहा है। भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्, परंपरागत के साथ-साथ समकालीन प्रयोगों को भी लगातार बढ़ावा दे रही है। साथ ही, भारत की सांस्कृतिक पहचान--शास्त्रीय व लोक कलाओं को विशेष सम्मान दिया जाता है। भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् सहभागिता व भाईचारे की संस्कृति की संवाहक है, व अन्य राष्ट्रों के साथ सृजनात्मक संवाद स्थापित करती है। विश्व-संस्कृति से संवाद स्थापित करने के लिए परिषद् ने अंतरराष्ट्रीय मंच पर भारतीय संस्कृति की समृद्धि एवं विविधता को प्रदर्शित करने का प्रयास किया है।

भारत और सहयोगी राष्ट्रों के बीच सांस्कृतिक व बौद्धिक आदान-प्रदान का अग्रणी प्रायोजक होना, परिषद् के लिए गौरव का विषय है। परिषद् का यह संकल्प है कि आने वाले वर्षों में भारत के गौरवशाली सांस्कृतिक एवं शैक्षणिक आंदोलन को बढ़ावा दिया जाए।

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् मुख्यालय

अध्यक्ष	:	23378616 23370698
महानिदेशक	:	23378103 23370471
उप-महानिदेशक (एन.के.)	:	23370228 23378662
प्रशासन अनुभाग	:	23370834
अनुरक्षण अनुभाग	:	23378849
वित्त एवं लेखा अनुभाग	:	23379638
भारतीय सांस्कृति केन्द्र अनुभाग	:	23379274
अंतरराष्ट्रीय विद्यार्थी प्रभाग-1	:	23370391
अन्तरराष्ट्रीय विद्यार्थी प्रभाग-2	:	23370633
अंतरराष्ट्रीय विद्यार्थी (अफगान)	:	23379371
हिंदी अनुभाग	:	23379309-10 एक्स. 3388, 3347

गगनांचल

सितम्बर-अक्तूबर, 2016

प्रकाशक
अमरेंद्र खटुआ
महानिदेशक
भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्, नई दिल्ली

संपादक
नम्रता कुमार
उप-महानिदेशक

सहायक संपादक
डॉ. पूजा खिल्लन

ISSN : 0971-1430

संपादकीय पता
भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्
आजाद भवन, इन्द्रप्रस्थ एस्टेट, नई दिल्ली-110002
ई-मेल: ddgnk.iccr@nic.in, pohindi.iccr@nic.in

गगनांचल अब इंटरनेट पर भी उपलब्ध है।
www.iccr.gov.in/journals/hindi-journals
पर क्लिक करें।

गगनांचल में प्रकाशित लेखादि पर प्रकाशक का कॉपीराइट है। किंतु पुनर्मुद्रण के लिए आग्रह प्राप्त होने पर अनुज्ञा दी जा सकती है। अतः प्रकाशक की पूर्वानुमति के बिना कोई भी लेखादि पुनर्मुद्रित न किया जाए। गगनांचल में व्यक्त विचार संबद्ध लेखकों के होते हैं और आवश्यक रूप से परिषद् की नीति को प्रकट नहीं करते।

शुल्क दर

वार्षिक	:	₹	500
		यू.एस. $	100
त्रैवार्षिक	:	₹	1200
		यू.एस. $	250

उपर्युक्त शुल्क-दर का अग्रिम भुगतान 'भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्, नई दिल्ली' को देय बैंक ड्राफ्ट/मनीऑर्डर द्वारा किया जाना श्रेयस्कर है।

मुद्रक: सीता फाईन आर्ट्स प्रा. लि. नई दिल्ली-110028
www.sitafinearts.com

विषय-सूची

भा.सां.सं.परिषद् द्वारा आयोजित
हिन्दी पखवाड़ा : एक झलक 5

लेख

आँचलिक कथा-प्रवर्तक–क्रान्तिदूत फणीश्वरनाथ रेणु 9
सीताराम पाण्डेय

छायावादी काव्य में राष्ट्रीय चेतना 14
डॉ. गार्गीशरण मिश्र 'मराल'

झारखण्ड के संताल परगना का हिजला मेला 17
डॉ. रामचन्द्र राय

विस्थापन की समस्या और हिन्दी उपन्यास 19
लक्ष्मी

हास्य सम्राट काका हाथरसी 24
डॉ. सुरेन्द्र गुप्त

पहला स्वाधीनता संग्राम और नर्मदा क्षेत्र के आदिवासी 27
डॉ. हीरालाल बाछोतिया

अमल धवल गिरि के शिखरों पर 30
अनुराग शर्मा

देवों का गढ़ – देवगढ़ 34
सुरेन्द्र अग्निहोत्री

खोई डायरी के पन्ने और अमृता शेरगिल 37
सुदर्शन वशिष्ठ

भारतीय साहित्य और प्रारम्भिक उपन्यास 42
डॉ. सन्तोष कुमार राय

मुद्राराक्षस एक सार्वजनिक बुद्धिजीवी थे 51
डॉ. राजकुमार कुम्भज

डॉ. नामवर सिंह की आलोचना दृष्टि 54
डॉ. जंग बहादुर पाण्डेय

कौन कहे? यह प्रेम हृदय की बहुत बड़ी उलझन है 57
डॉ. पुनीत बिसारिया

उपेन्द्रनाथ अश्क : एक बहुआयामी रचनाकार 62
राजेन्द्र परदेसी

सिनेमा में रंगमंच की परंपरा 66
संजीव श्रीवास्तव

साक्षात्कार

नाटक एक जनतांत्रिक विधा है 72
डॉ. सत्यदेव प्रसाद
(प्रसिद्ध नाटककार मीराकांत से प्राध्यापक
डॉ. सत्यदेव प्रसाद की बातचीत)

कहानी

वेलकम सुनन्दा 76
जसविंदर शर्मा

स्वप्नजीवी 79
बल्लभ डोभाल

कविता, ग़ज़ल, गीत, नवगीत, दोहे

ग़ज़ल 82
डॉ. मधुर नज्मी

कविता 82
शिवानंद सिंह 'सहयोगी'

प्यार जताने के लिए 83
राजीव कुमार त्रिगर्ती

आदमी से प्यार कीजिए 83
जितेन्द्र निर्मोही

तीन कविताएँ (ईमानदारी की कमीज पहनकर/ 84
जनसमुद्र में जी रहा हूँ/तुम्हारी बेरुखी मेरी
उम्र बढ़ाती हैं)
दिनकर कुमार

शाम के साये 85
सुरेश चंद्र 'सर्वहारा'

ईद कबूतर और तीन फरिश्ते 85
डॉ. अलका त्यागी

ऐ जिन्दगी तुम इतनी उलझी-सी क्यूँ हो?/ 86
तब मनुष्य खुद से ही है हारता
नागेन्द्र चौधरी

पुस्तक-समीक्षा

अश्वत्थामा के घाव से रिस रहा अतृप्त 87
मन का विरह गीत
अलका सिन्हा

मीडिया, सिनेमा और स्त्री की निर्मिति 89
हंसराज 'सुमन'

शिक्षा व्यवस्था की दरारें 92
प्रेमपाल शर्मा से पत्रकार अनुराग की बातचीत
मनोज कुमार

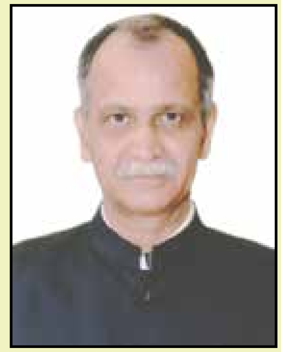

प्रकाशक की ओर से

प्रेम, मैत्री, भाईचारा, सौहार्द ऐसे असाधारण मूल्य हैं जिनकी कीमत नहीं लगाई जा सकती किन्तु उपभोक्ता-उत्पादन संबंध की तर्ज पर जिस तरह के उपभोक्ता समाज (Consumer Society) का निर्माण हुआ है उसमें वस्तु के साथ मूल्य का भी वस्तुकरण हुआ है। इतना ही नहीं व्यक्ति खुद एक वस्तु यानि (Commodity) में बदल गया है। जिसका नतीजा यह हुआ है कि जीवन के किसी भी पक्ष में आज संतुलन दिखाई नहीं पड़ता।

प्रकृति, समाज और व्यक्ति इन तीनों के रिश्ते सहज नहीं बचे हैं। मनुष्य ने जो अतिरिक्त बोझ धरती पर डाला है उससे वह अपने विनाश की ओर स्वयं बढ़ा है। फसलें नष्ट हो रही हैं, कहीं पर सूखा तो कहीं बाढ़ की स्थिति है। चारों तरफ हाहाकार है। देखना यह है कि मनुष्य इस अनियंत्रण को किस प्रकार झेलता है।

बहरहाल 'गगनांचल' पत्रिका के माध्यम से साहित्य, कला, संस्कृति एवं उससे जुड़े मुद्दों को तरजीह दी जाती रही है जिससे पाठक को एक दिशा प्रदान की जा सके। हमें लगता है 'गगनांचल' पत्रिका अपने इस प्रयास में सफल रही है। उम्मीद है आगे भी पाठकों का सहयोग हमें अनवरत मिलता रहेगा।

(अमरेंद्र खटुआ)
महानिदेशक
भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्

संपादक की ओर से

अपने उनतालीस वर्षों के सफर में 'गगनांचल' पत्रिका ने कई महत्वपूर्ण पड़ाव देखे हैं। वैज्ञानिक युग में संस्कृति, परम्परा, साहित्य को सहेजना एवं उसका नवीनीकरण दोनों ही चुनौतीपूर्ण कार्य रहे हैं। गगनांचल ने इन चुनौतियों का निर्वाह साहस एवं पाठक की कसौटी पर खरा उतरकर किया है। पत्र-पत्रिकाएं विचारों के माध्यम से रूढ़ियों के रूप में विकास विरोधी तत्वों की पहचान कराती हैं और आगामी पीढ़ी को इनसे जूझने का साहस प्रदान करती है। भारत की आजादी को जितने वर्ष हुए हैं उतने ही वर्ष एक नवीन रूढ़िमुक्त और लोकतांत्रिक देश को विकास मार्ग पर अग्रसर होते हुए भी हुए हैं। जिसमें अंधविश्वास, कुप्रथाओं एवं रूढ़ियों के उन्मूलन में बौद्धिक विचार-विमर्श एवं सोच का बहुत बड़ा एवं उल्लेखनीय योगदान है। पुरातन काल में यदि आध्यात्म एवं कला में भारत उत्कर्ष पर था तो आधुनिक काल में तकनीक एवं परमाणु ऊर्जा के क्षेत्र में भारत ने ऊंचाई को छुआ है जिसकी कीमत मूल्यों एवं सांस्कृतिक पतन के रूप में चुकानी पड़ी है। यदि एक के बदले दूसरे को बलिदान करने की परिस्थितिजन्य षड्यंत्र का वरण न करना पड़ता तो शायद एक राष्ट्र के रूप में भारत की तस्वीर दूसरी ही बनती किंतु फिर भी इतने वर्षों की गुलामी और जड़ताओं के बाद सबकुछ ढहा कर राष्ट्र का नवनिर्माण उतना आसान कभी नहीं था चूंकि जो दिया गया था उसमें बहुत कुछ दूसरों द्वारा आरोपित एवं परिस्थितिजन्य था। बहुलता में एकता की संस्कृति तथा दुनिया के सबसे पुराने लोकतंत्र को बचाने का गौरव हमने तब भी छिनने नहीं दिया। भारत आज भी अंतरराष्ट्रीय फलक पर दूसरे देशों के लिए मिसाल और चुनौती दोनों है चूंकि यह आज भी संभावनाओं से लैस है। भारत एक युवा राष्ट्र है चूंकि यहां की युवा आबादी अन्य राष्ट्रों की तुलना में सर्वाधिक है। इस युवा आबादी को दिशा एवं प्रेरणा देने का काम देश की पत्र-पत्रिकाएं एवं बौद्धिक समाज ही करेगा। इस हेतु पुराने का अवलोकन एवं नये की परख जरूरी है। 'गगनांचल' ने यह कार्य बखूबी किया है। इस अंक में सिनेमा तथा सिनेमा के बहाने स्त्री जीवन की विडम्बनाओं को रेखांकित करते हुए क्रमश: 'सिनेमा एवं रंगमंच की परम्परा' संजीव श्रीवास्तव का आलेख तथा मीडिया 'सिनेमा एवं स्त्री की निर्मिति' डॉ. हंसराज सुमन की पुस्तक समीक्षा विशेष पठनीय है। इसके अलावा अमृता शेरगिल पर सुदर्शन वशिष्ठ, दिनकर की अमर कृति 'उर्वशी' पर पुनीत बिसारिया, नामवर सिंह की आलोचना दृष्टि पर जंग बहादुर पाण्डेय, उपेन्द्रनाथ अश्क पर राजेन्द्र परदेसी तथा साहित्यकार मुद्राराक्षस की स्मृति में राजकुमार कुम्भज आदि के लेख विशेष रूप से पठनीय हैं।

नम्रता

(नम्रता कुमार)
उप-महानिदेशक
भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्

भा.सां.सं. परिषद् द्वारा आयोजित हिन्दी पखवाड़ा : एक झलक

दिनांक 14.09.2016 (हिन्दी दिवस) के अवसर पर परिषद् के सम्मेलन कक्ष में वर्तमान में हिन्दी की स्थिति-समस्याएं एवं समाधान विषय पर आयोजित व्याख्यान

हिन्दी पखवाड़ा, 2016 के दौरान दिनांक 15.09.2016 को परिषद् के सम्मेलन कक्ष में हिन्दी कार्यशाला का आयोजन

हिन्दी पखवाड़ा, 2016 के दौरान दिनांक 16.09.2016 को हिन्दी निबंध प्रतियोगिता का आयोजन

हिन्दी पखवाड़ा, 2016 के दौरान दिनांक 16.09.2016 को हिन्दी निबंध प्रतियोगिता का आयोजन

हिन्दी पखवाड़ा, 2016 के दौरान दिनांक 19.9.2016 को सामान्य हिन्दी प्रतियोगिता का आयोजन

हिन्दी पखवाड़ा, 2016 के दौरान दिनांक 21.09.2016 को हिन्दी श्रुतिलेखन का आयोजन

दिनांक 28.09.2016 को हिन्दी पखवाड़ा, 2016 के दौरान पुरस्कार वितरण एवं समापन समारोह में महानिदेशक श्री अमरेंद्र खटुआ जी सम्बोधित करते हुए

दिनांक 28.09.2016 को हिन्दी पखवाड़े के दौरान पुरस्कार वितरण एवं समापन समारोह का आयोजन

आँचलिक कथा-प्रवर्त्तक-क्रान्तिदूत फणीश्वरनाथ रेणु

सीताराम पाण्डेय

लेखक माध्यमिक शिक्षा बोर्ड (बिहार) से अवकाश प्राप्त अध्यापक हैं। कवि, कथाकार एवं समालोचक के रूप में प्रतिष्ठित। प्रकाशित कृतियां 'गीतिका' (गीत संग्रह), 'सिसकते अरमान' (काव्य-संग्रह), 'प्रत्यूषा' (काव्य-संग्रह), 'नव उत्पल एवं कथालोक' (कहानी-संग्रह) आदि।

हिन्दी के समृद्ध कथा लेखकीय परिदृश्य में कुछ ऐसे प्रबुद्ध प्रतिष्ठित विद्वान लेखक-कवि हुए हैं, जिन्होंने अपनी कारयित्री एवं सृजनशील प्रतिभा से भारतीय लोक साहित्य को समृद्ध एवं सुदृढ़ बनाने में न केवल महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है बल्कि सम्पूर्ण रूप से समर्पित भाव का परिचय भी दिया है। जिनमें प्रमुख रूप से रामवृक्ष बेनीपुरी, नागार्जुन, प्रेमचन्द आदि सुविज्ञ साहित्यकारों का नाम उल्लेखनीय है। उन्हीं सुविख्यात एवं सुप्रसिद्ध साहित्यकारों के बीच हिन्दी में आँचलिक कथा-साहित्य के प्रवर्त्तक ग्राम्य-लोक-साहित्यकार फणीश्वर नाथ रेणु शाश्वत रूप से याद किये जाते रहेंगे।

ज्ञातव्य हो कि वे ग्रामीण संस्कार के साहित्यकार तो थे ही, गाँव के आम जन-जीवन के साथ इनका विराट व्यक्तित्व भी जुड़ा था। इनका साहित्य न केवल सहजता, सरलता और मानवीयता से ओत-प्रोत है, अपितु उसमें आम जन-जीवन का बिंब भी स्पष्ट झिलमिलाता है। वस्तुत: रेणु जी प्रेमचन्द की कथा परम्परा के दूसरे कथाकार माने जाते

हैं। उनका साहित्य वर्तमान परिवेश में पूर्णत: प्रासंगिक है।

फणीश्वरनाथ रेणु का जन्म बिहार राज्य के अन्तर्गत सुदूर पूर्व पूर्णिया जिले के औराही-हिंगना गांव में 4 मार्च, 1921 ई. में हुआ था। इनकी प्रारंभिक शिक्षा अररिया और फारविसगंज में प्राप्त हुई। बिराटनगर के आदर्श विद्यालय से उनके द्वारा मैट्रिक की परीक्षा में उत्तीर्णता प्राप्त की गयी। उसके बाद काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के अन्तर्गत उन्होंने आई.ए. में दो वर्षों तक अध्ययन किया और स्वतंत्रता संग्राम के क्रम में चल रहे 1942 ई. की क्रान्ति में वे कूद पड़े। जिसके कारण उनकी आगे की विश्वविद्यालीय पढ़ाई अवरुद्ध हो गयी।

1940 ई. के आस-पास रेखा कुमारी नामक कुलीन लड़की के साथ उनका वैवाहिक संस्कार सम्पन्न हुआ। किन्तु, कुछ ही कालोपरान्त वह काल के गाल में समा गयी और उससे कोई संतान संभव नहीं हो सका। उसके बाद पद्मा कुमारी नाम की खानदानी एवं सुशील लड़की के साथ वे पुन: वैवाहिक बन्धन में बँध गये। जिसके गर्भ से चार संतानें उत्पन्न हुईं। दो पुत्र और दो पुत्रियाँ। पुत्रों में पद्म पराग रेणु बड़े और दक्षिणेश्वर राय छोटे थे। पद्मपराग रेणु की अभिरुचि देश की राजनीति में पूर्ण रूप से दिखाई पड़ने लगी। अत: आज वे बिहार विधान परिषद् के निर्वाचित सदस्य के रूप में सक्रिय हैं। उनकी दूसरी पत्नी पद्मा की मृत्यु अभी हाल में ही हुई है।

पुत्रियों में बड़ी पुत्री का नाम नवनीता और सबसे छोटी पुत्री, जिसका नाम 'तीसरी कसम' फिल्म की अभिनेत्री वहीदा रहमान के नाम पर रेणु जी ने रखा था।

अपने जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में उन्होंने स्वाधीनता संघर्ष के साथ-साथ कई किसान आन्दोलनों में भाग लिया था। 1942 ई. के स्वतंत्रता संघर्ष से रेणु जी को जेल में जाना पड़ा और उसमें विभिन्न यातनाएँ भी झेलनी पड़ी। जिसकी वजह से उनकी तबीयत काफी खराब हो गयी तब उनकी गंभीर स्थिति को देखते हुए भागलपुर सेन्ट्रल जेल के शासक के द्वारा उन्हें पटना के सरकारी अस्पताल में भर्ती कराया गया। जहाँ उनका प्रथम साक्षात्कार नर्स लतिका चौधरी के साथ हुआ।

लतिका उसी सरकारी अस्पताल में नर्स की नौकरी करती थी। वह बंगाली

लड़की थी अवश्य, किन्तु, बिहारी संस्कृति के प्रति उसका अत्यधिक झुकाव था। उनकी दवा-दारू, देख-रेख आदि की सारी जिम्मेदारी नर्स लतिका चौधरी पर ही सौंपी गयी थी। वह उनकी मासूमियत और सहजता से काफी प्रभावित होकर बड़ी तत्परता एवं ईमानदारी के साथ तब तक उनकी अनवरत सेवा करती रही, जब तक वे स्वस्थ होकर अस्पताल से चले नहीं गये। जेल से छूटने के बाद वे साहित्य सृजन में संलग्न हो गये और तब से निरंतर उनकी लेखनी चलती रही।

1948 ई. में रेणु जी असाध्य रोग टी.बी. से ग्रसित हो गये और पुन: पटना के सरकारी अस्पताल में भर्ती करा दिये गये जहाँ लतिका चौधरी उनकी कठिन बीमारी को देखकर समर्पित भाव से उनकी सेवा करने में जुट गयी। यद्यपि चिकित्सकों ने उनकी गंभीर स्थिति को देखते हुए खतरे की घंटी बजने की उम्मीद बता दी थी। लेकिन नर्स लतिका ने अहर्निश सेवा-सुश्रूषा कर उन्हें मौत के मुँह से बाहर निकाल दिया।

लतिका चौधरी पटना के सब्जीबाग में 1951 ई. के आसपास डेरा लेकर रहती थी। रेणु और लतिका एक-दूसरे से न केवल पूर्णत: प्रभावित हो गये थे, बल्कि प्रेम भी करने लग गये थे। जब अस्पताल से रेणु जी स्वस्थ होकर बाहर आये तो लतिका ने बड़े प्यार से पूछा– “बीमार होने पर यहाँ रहते हो, लेकिन ज्यों ही स्वस्थ हो जाते हो, ...गाँव चले जाते हो?...” “तो कहाँ जाऊँ?” रेणु ने बड़ी मासूमियत भाव से कहा–क्या, तुम अपने घर में रखोगी...?”

उनकी सहजता और शराफत से प्रभावित होकर अपने साथ रहने की स्वीकृति दे दी और वे लतिका के साथ पटना में ही रहने लग गये। एक अनजाने नौजवान के साथ एक कुमारी युवती लड़की को अहर्निश एक साथ रहते देखकर आज के परिवेश में भला किसके मन में शंका उत्पन्न नहीं हो सकती...? आखिर हुआ भी। यही धीरे-धीरे समाज में चर्चा का विषय बन गया और लोगों के बीच खुलकर इन दोनों प्रेमी-प्रेमिका की आलोचना होने लगी। सामाजिक आलोचना से ऊब कर रेणु जी ने लतिका के समक्ष वैवाहिक प्रस्ताव पेश किया, जिसे उसने थोड़ी झिझक के पश्चात् स्वीकार कर लिया और दोनों हजारीबाग में जाकर विधिवत वैवाहिक बंधन में बँध गये।

गाँव में पद्मा चार बच्चों के साथ अपने बिखरे दाम्पत्य पर आँसू बहा रही थी और इधर रेणु जी तीसरी शादी कर, यौवन के दहलीज पर खड़ी लतिका के साथ प्रेम की शहनाई बजा रहे थे। हिन्दी के प्रख्यात साहित्यकार तुलसीदास ने ठीक ही कहा है–“समरथ को नही दोष गोसाई”।

पूर्णरूपेण टी.बी. की बीमारी से ग्रसित होने के कारण विवाह के समय मंडप में ही खून वमन हो गया, जिसकी वजह से लतिका का पूरा परिवार विवाह का विरोध करने लगा। लेकिन इतना होने के बावजूद लतिका अपनी वफादारी का परिचय देते हुए रेणु के साथ विवाह करने के लिए कटिबद्ध रही। अत: सभी लोगों को विवश होकर बीमार व्यक्ति के साथ उसका विवाह कर देना ही पड़ा। हालांकि उस समय भी उन्हें आदमियों ने कंधा में हाथ लगाकर मंडप में बैठाया क्योंकि वे टी.बी. रोग के कारण बहुत कमजोर हो गये थे।

विवाहोपरान्त बंगाली समाज की परम्परा के अनुसार एक थाली में खीर, मछली और अन्य वस्तुएं रखकर बधू के समक्ष वर कहता है–“आज से बधू का सम्पूर्ण खर्च मैं उठाऊँगा।” ...लेकिन यहाँ लतिका ने एक आदर्श पेश करते हुए उस परम्परा के प्रतिकूल कार्य कर एक मिशाल कायम किया और उसने अपने बीमार पति के सम्पूर्ण खर्च उठाने की वर की जगह स्वयं वधू लतिका ने प्रतिज्ञा की। इतना ही नहीं, वह आजीवन मां नहीं बनने का संकल्प भी ले लिया और गर्भाशय निकलवा दिया। जिसके कारण वह कभी मां नहीं बन सकी। प्रेमी के लिए प्रेमिका के द्वारा निश्छल निष्कपट एवं पवित्र प्यार समर्पण करने का प्रमाण, इससे बढ़कर दूसरा हो ही नहीं सकता? क्या, आज के प्रेम में त्याग की ऐसी कहानियां नजर आती हैं...?

आगे चलकर लतिका नर्स की नौकरी छोड़कर श्री रामकृष्ण मिशन, स्कूल में पढ़ाने लगी। किराये के मकान से मुक्त होकर रेणु के साथ राजेन्द्रनगर स्थित गोलम्बर में 2/32 नम्बर के फलैट में रहने लगी। 1955 के आसपास पटना में ही थे तब ‘मैला आँचल’ (उपन्यास) लिखा और प्रकाशित कराने का प्रयास करने लगे। किन्तु, आर्थिक अभाव के कारण छपने में कठिनाई हो रही थी। बाद में लतिका के आर्थिक सहयोग से वह छप सका। अपने प्रथम उपन्यास मैला आँचल से ही उनकी लोकप्रियता और शिष्टता शिखर पर पहुँच गयी। उनकी अन्य कथा-कृतियाँ हैं–परती परिकथा, जुलूस, दीर्घतपा, कितने चौराहे, पल्टू बाबू रोड (उपन्यास), ठुमरी, आहिस रात्रि की महक, अग्निखोर (कहानी संग्रह), ऋण जल, धन जल, नेपाली क्रान्तिकथा (रीपोर्ताज) आदि।

रेणु ने अपने रिपोर्ताज में नेपाल के जनतंत्रात्मक प्रणाली के संदर्भ में उल्लेख किया है कि–1947 का मजदूरों का यह आंदोलन 1950 में हुए राणाशाही के विरूद्ध संग्राम की पृष्ठभूमि बना। यह नेपाल की जनता में जागरण का पहला शंखनाद था। अक्तूबर 1950 में नेपाल में क्रांति प्रारंभ हुई थी और 1951 की फरवरी, के अंत में नेपाल में पहली बार

वहां लोकतंत्र की स्थापना हुई। रेणु ने 'नेपाली क्रांतिकथा' में इस लोमहर्षक युद्ध का जीवंत चित्र उपस्थित किया है। 1950 के सितम्बर महीने में उनके पिता की मृत्यु हो गई थी और अक्तूबर महीने में उनके छोटे भाई महेंद्र की। इस दोहरे शोक की अवस्था में वे पड़े हुए थे। 'नेपाली क्रांति कथा' नामक रिपोर्ताज के अंत में रेणु ने इस विषय में लिखा है–

दो महीना पहले शोकाकुल अवस्था में सांदाज्यु (बी.पी.) का पत्र मिला था– तुम्हारे पिताजी और छोटे भाई की मृत्यु एक ही पखवाड़े में हुई और इस दोहरे दुख को तुम झेल रहे हो, मालूम हुआ। तुम्हारे दुख को अनुभव कर रहा हूँ। किन्तु इस तरह शोक में डूबे रहने से कैसे काम चलेगा? फिर इससे कोई लाभ भी तो नहीं। अभी तो न जाने ऐसे कितने शोक-संवाद मिलेंगे–यहाँ आकर देखो–कितने लोग मरने के लिए आए हुए हैं। इस वर्ष का अंत होते-होते तक पता नहीं तुमको और कितने प्रियजनों की मृत्यु के समाचार सुनने और सहने को मिलें। पत्र पाते ही यहां आ जाओ। एक बार यहां आओ तो सही। फिर, न हो तो, वापस चले जाना। तुम्हारा, सांदाज्यु!"

1949 ई. पटना में आयी महानंदा नदी की बाढ़ का चित्रण करते हुए वे मालिक और कुत्ते के अटूट प्रेम को दर्शाने वाला एक प्रसंग रखते हैं। रेणु का लगाव कुत्तों से कितना अधिक था, यह सभी लोग लगभग जानते हैं। वे कुत्ता पालते भी थे। उन्होंने अपने कुत्ते 'सिप्पी' के दिवंगत हो जाने के बाद एक मार्मिक संस्मरण 'पत्र शैली' में लिखा है। पटना-जल प्रलय के पहले अध्याय का शीर्षक ही है 'कुत्ते की आवाज'।रेणु ने अपने दाम्पत्य जीवन के कई प्रसंगों का वर्णन किया है। इसी क्रम में निम्नलिखित प्रसंग अवलोकनीय है–

'ए कि? जल चले गेठे? कले जल नई? बडडो मुश्किल'

जलविहीन 'हैंडपंप' के हैंडल को चलाती हुई लतिका जी ने कहा–'किन्तु पुनपुन की बाढ़ के समय तो पानी कभी बन्द नहीं हुआ?'

'अरे दुर तोमार... पुनपुन की बाढ़ की बात। मैं पूछ रही हूँ कि अब क्या होगा?... देखूँ, रोमेटो की मां के कल में है या वह भी...।' राजेन्द्र नगर के इलाके में ऊपर के तल्लों में पानी की किल्लत हमेशा ही रहती है। प्रेशर कम रहता है। बहुत दिनों तक कष्ट झेलने के बाद, तीन साल पहले हमने सड़क के किनारे 'अंडरग्राउंड मेन लाइन' में डेढ़ सौ फीट पाइप जुड़वाकर 'हैंडपाइप' लगवाया। गांव के 'टयूबवेल' का पानी जब सूख जाता है–हम ऊपर से पानी डालकर उसको पुनर्जीवित करते हैं। यहाँ भी वही करना होगा। बड़े एक मग पानी लिया, पंप की थुथनी को ऊपर की ओर करके पानी डाल दिया, फिर हैंडिल चलाने लगा। तब तक लतिका जी छोटी बाल्टी में पानी लेकर पहुँची और मुझ पर बरस पड़ी–एक मग पानी बर्बाद कर दिया न। मुन्नी की माँ के घर से पानी ला रही हूँ।' वह घड़े में पानी डालकर फिर बाहर गयी तो मैंने हैंडपंप को फिर एक मग पानी पिलाया और हैंडिल चलाने लगा, वह उल्टे पांव दौड़ी आयी, 'तुम समझते क्यों नहीं? फिर एक मग पानी बर्बाद किया न? जरा बुद्धि से भी काम लिया करो। जब मेन पाइप में ही पानी नहीं तो... मीठे-मीठे... बेकार पानी डालकर...'

तब तक पंप में जान आ गयी थी। पंप की उल्टी हुई थुथनी से पानी का फव्वारा निकला और मैं भीग गया। पुरुषार्थ भरे स्वर में कहा, 'बुद्धि से ही काम लेकर तो अब तक जी रहा हूँ श्रीमती जी! लीजिए, घर में जितने भी बर्तन हैं–पात्र, अपात्र, कुपात्र, सबमें पानी स्टोर कर लीजिए। श्री कृष्णपुरी की ओर न पानी है, न बिजली। इधर भी अब तक है-है...'

रीपोर्ताज में रेणु स्वयं बताते हैं–मैं 1952 ई. तक सक्रिय राजनीति में था।... अपने क्षेत्र के कई किसान आन्दोलन, काश्त-संघर्ष तथा मिल मजदूरों की हड़ताल के नारे लगाने और भाषण देने के अलावा पार्टी-पत्रिकाओं में उन संघर्षों के अनुभव पर रीपोर्ताज वगैरह लिखा करता था। बाद में मैंने पार्टी छोड़ दी। सक्रिय राजनीति से अलग होकर भी राजनीति से संन्यास नहीं ले सका।... पूछिए तो राजनीति ने मुझे बहुत दिया। अपने जिले के गाँव-गाँव में घूमा, लोगों से मिला, उनके सुख-दुख का परिचय हुआ, चंदे वसूले। अपनी सक्रियता के कारण साथियों के साथ गाँव में रात के वक्त भी डेरा डालना पड़ता... रात में दूर से कहीं ढोलक-झांझ पर नाच-गान की स्वर लहरी मंडराती आती और मैं अपने साथियों को छोड़कर वहीं चल देता। कहीं 'विदेशिया' कहीं 'जालिम सिंह सिपहिया' और किसी गांव में ननदी-भौजइया के नाच-गान। वे नाच देखने से ज्यादा नाच देखने वालों को देखकर अचरज से मुग्ध हो जाते। तब समझा कि हमारे लच्छेदार भाषणों से ज्यादा प्रभाव उस सांस्कृतिक चेतना का होता है, जो उन्हें मुसीबत में भी गाते रहने के लिए मजबूर किये रहती है। जहां तक बोली और भाषा का प्रश्न है, उन्हीं गांवों में घूमकर भाषा की शक्ति को समझने का मौका मिला।

इनकी साहित्यिक प्रतिभा और सेवाओं के लिए इन्हें भारत सरकार के द्वारा 1970 ई. में पद्मश्री की सम्मानोपाधि से विभूषित किया गया। किन्तु, बिहार आन्दोलन के दौरान जब जय प्रकाश नारायण पर पुलिस के द्वारा लाठीचार्ज किया गया तो रेणु जी उसके विरोध में आकर पद्मश्री का अलंकरण राष्ट्रपति को लौटा दिया। वे फारविसगंज से

निर्दलीय बिहार विधान सभा के लिए 1973 ई. में चुनाव लड़े थे लेकिन सफलता नहीं मिल सकी।

स्वतंत्रता आन्दोलन के दरम्यान जयप्रकाश जी के द्वारा आवाहित क्रान्ति में रेणु जी लगभग चौहत्तर दिन पूर्णिया जेल में बन्द रहे और उन्हें काफी विरोध झेलना पड़ा। आपातकाल के दौरान वे कर्पूरी ठाकुर के साथ नेपाल में जाकर भूमिगत हो गये। 1974 ई. में पुन: कर्पूरी ठाकुर के साथ नेपाल से लौटकर पटना आ गये। वे भयभीत रहते थे। जिसके कारण लतिका ने इन्हें एक इंग्लैण्ड की बनी रिवाल्वर खरीद कर दे दी थी। जिसे वे हमेशा कार्यकाल में कमर में बांध कर रखते थे।

इनके अक्षय यश की प्राप्ति का आधार है, इनका कथा-साहित्य। अपनी कहानियों में रेणु ने गंवई तेवर को ठीक से पहचाना है और उसे यथार्थ का फलक प्रदान किया है। जिसका साधन है–भाषा और वस्तु की आंचलिकता। रेणु हिन्दी साहित्य के प्रथम लेखक हैं, जिन्होंने गीत-संगीत पर नयी बहस छेड़ी थी। उनकी कहानियों में संगीत के संवेदनात्मक स्वर के साथ-साथ कलात्मक चित्रात्मकता भी द्रष्टव्य है। उनकी कहानियों की सबसे बड़ी विशेषता है–गंवई स्वर्श और मिट्टी की गंध से कथा की आत्मा का अभिभूत होना।

उदाहरणस्वरूप इनके द्वारा लिखी गयी संवेदनशील 'संवदिया' कहानी को लीजिए, जिसमें ग्रामीण यथार्थ अधोगति तथा शेष जीवन पतिकुल और पितृकुल की दुहरी प्रतिष्ठा ढोते रहने की उसकी करुणा विवशता के साथ मायके पर उसकी आशापूर्ण विश्वास का बड़ा ही मर्मस्पर्शी चित्रण किया गया है। इस कहानी में उस विधवा के गांव के एक निठल्ले, किन्तु, संवेदनशील संवदिया के उत्तरदायित्व और उसकी भावना के अन्त-संघर्ष का भी बड़ा ही प्रभावशाली अंकन हुआ है। संवदिया कहानी में एक संदेशवाहक का कर्त्तव्यबोध एवं उसकी निजी भावना के संघर्ष में उसकी भावना की ही विजय हुई है।

इनकी पहली कहानी 'बटबाबा' है, जो विश्वामित्र पत्रिका में प्रकाशित हुई थी।

इनकी सुप्रसिद्ध कहानी 'मारे गये गुलफाम' पर आधारित 'तीसरी कसम' फिल्म का निर्माण शंकर शैलेन्द्र के सहयोग से किया गया। जिसमें अभिनेता के रूप में राजकपूर और अभिनेत्री वहीदा रहमान ने पार्ट अदा किये। कहानी और सम्वाद स्वयं रेणु जी के द्वारा लिखे गये और संगीत जाने-माने संगीतकार शंकर शैलेन्द्र ने दिया। कैमरा मैन के रूप में सुब्रत राय का नाम उल्लेखनीय है। यह फिल्म इतनी लोकप्रिय बन गयी कि सिनेमाघरों में महीनों भीड़ चलती रही। इसके कुछ प्रभावकारी असरदार और संवेदनात्मक संगीत सुनिए–

'भारत में आये सुराज चलो सखि देखन को'

'दुनिया बनाने वाले का तेरे मन में समाई, काहे को दुनिया बनाई।'

'चलत मोसाफिर मोह लियो रे पिजड़े वाली मुनिया...'

'पान खायो सइया हमारो, श्यामली सूरतिया ओठ लाले लाल'

'सजन रे झूठ मत बोलो, खुदा के पास जाना है, न हाथी है, न घोड़ा है, वहाँ पैदल ही जाना है...'

'सजनवा बैरी हो गये हमार आदि...'

फिल्म की स्टोरी अच्छी है किन्तु, फिल्म दुखान्त है। दो चार लाख की जगह करीब अट्ठारह बीस लाख रुपये की लागत से यह फिल्म बनी। अन्त में आर्थिक अभाव के कारण राजकपूर फिल्म को दुखान्त से दूर करना चाहते थे और कथा में 'परिवर्तन' करने के लिए कहा जा रहा था, परन्तु, रेणु जी स्टोरी परिवर्तन के पक्ष में बिलकुल नहीं हुए और उसकी स्टोरी ज्यों की त्यों रह गयी।

'तीसरी कसम' के चक्कर में रेणु जी ने आकाशवाणी की नौकरी छोड़ दी। फिल्म को बनने के बाद वे पांच सौ रुपए के कर्ज में डूबे हुए थे। अपनी आर्थिक स्थिति को देखते हुए उन्होंने 'दिनमान' में लिखना शुरू किया और चार-पांच वर्षों तक बिहार से लगातार लिखते रहे।

रेणु जी ने स्वयं कहा है कि 'मैं गांव छोड़कर पटना चला गया और पटना से इलाहाबाद। उस समय सारे हिन्दुस्तान के लोग एक दिखाई पड़ रहे थे। लेकिन स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात अब देश में जहां भी जाता हूं लोग पूछते हैं–आप किस जाति के हैं?... कौन उपजाति है आपका। किस धर्म को मानने वाले हैं? आदि-आदि। यह सुनकर मुझे दुख होता है।'

अपने रिपोर्ताज में रेणु जी ने अपने जीवन के विभिन्न प्रसंगों का वर्णन किया है। प्रारम्भ में समाजवादी विचारधारा के लेखक थे। उस समय समाजवादी दल का एक साप्ताहिक पत्र जनता नाम से निकला करता था। जिसके सम्पादक रामवृक्ष बेनीपुरी जी थे। रेणु जी इस साप्ताहिक पत्र में रिपोर्ताज लिखा करते थे। किन्तु, रेणु जी को लेखनी को बंदिश या राजनीति जकड़न पसंद नहीं थी। उसके कारण उन्होंने पार्टीवादी राजनीति से संन्यास ले लिया। किन्तु राजनीतिक कार्यकर्त्ता रूप में जो अनुभव उन्हें हुआ, उसी के कारण वे 'मैला आंचल' एवं 'परती परिकथा' जैसे कालजयी उपन्यास लिख सके। दूसरा कोई लेखक इतने विराट परिदृश्य का उपन्यास नहीं लिख सका।

गीतकार शंकर शैलेन्द्र की असामयिक मृत्यु से उन्हें गहरा धक्का लगा और

आंख से आंसू झड़ने लगे। पटना के कई लेखक, कलाकार उनके पास पहुंचते थे और उनकी सहायता करते थे। उनमें हैं रामबचन राय, सत्यनारायण, परेस, नरेन्द्र घायल आदि जो उनकी जरूरत की चीजों को उन तक पहुंचाते थे और उनकी खोज-खबर लगातार लेते थे।

रेणु पटना में जब भी रहते शाम को काफी हाउस जरूर जाते। वहां साहित्यकारों, पत्रकारों, राजनीतिज्ञों के बीच गपशप होता, वे बांग्ला के कथाकार सतीशनाथ भादुड़ी को अपना गुरू मानते थे। उनकी कही बातों को आदर के साथ स्वीकार करते थे। उनसे रेणु जी का बहुत आत्मीय संबंध था।

रेणु को वरिष्ठ साहित्यकार एवं दिनमान के संपादक अज्ञेय का सान्निध्य प्राप्त हुआ था। 1966 ई. में मध्य बिहार में अकाल क्षेत्रों को देखने अज्ञेय दिल्ली से पटना पहुंचे और अपने साथ रेणु जी को भी भ्रमण में ले गये। वे जब भी पटना आते इनसे मिले बिना नहीं जाते।

एक तरफ रेणु लोक जीवन के साथ धीरे-धीरे पैठ बनाने लगे तो दूसरी ओर वे जनता को संगठित करने, गुलामी के बंधनों को तोड़ने के लिए भी कारगर कोशिश करते रहे।

उनके अंचल से सटा है विराट नगर। वहीं उन्होंने कृष्ण प्रसाद कोइराला द्वारा स्थापित आदर्श विद्यालय में शिक्षा पायी थी तथा उनके पांच पुत्रों के धर्मभाई की तरह नेपाली जनता को जागृत करने के लिए एवं बर्बर राणाशाही की गुलामी से मुक्ति के लिए संघर्ष किया था। रेणु ने नेपाली क्रान्ति कथा में नेपाल के अन्तर्गत हुए जनतंत्रात्मक युद्ध का विस्तार से वर्णन किया है।

रेणु लेखक थे, किन्तु नेपाली क्रांति में उन्होंने हथियार भी उठाया था। उन्होंने अपने 'टामीगन' का नाम दिया था 'रक्तचाप' और अपनी 'पार्कर 51' कलम को 'सिद्धिदा'। उन्होंने इन दोनों अस्त्रों का प्रयोग इस क्रांति में किया था।

1975 ई. में जब सोन नदी के पानी से पटना शहर भर गया था, तब इमरजेंसी के दिन थे और रेणु पेप्टिक अल्सर से पीड़ित थे। इस तरह शारीरिक एवं मानसिक दोनों स्तर पर वे त्रासद अवस्था में जी रहे थे।

असाध्य रोग टी.बी. के कारण उनका कलेजा सड़ चुका था और अल्सर का रूप ले लिया था। अचानक 16 नवम्बर 1976 ई. को उनको खून की उल्टी हो गयी। तब उन्हें अस्पताल में भर्ती करा दिया गया। 24 मार्च 1977 को उनका ऑपरेशन हुआ लेकिन ऑपरेशन के बाद होश में नहीं आये। 11 अप्रैल 1977 ई. को यह क्रांतिदूत हमेशा के लिए विदा हो गये और साहित्य संसार में एक सन्नाटा छा गया, जिसकी पूर्ति आज तक नहीं हो सकी।

विश्वेश्वर प्रसाद कोइराला ने इनकी मृत्यु के पश्चात उन पर लिखे संस्मरण में लिखा है–'सबसे बढ़कर रेणु मेरा छोटा भाई था। उसकी क्रांतिकारी प्रवृत्ति और अन्याय तथा दमन का विरोध करने की उग्रता मेरी ही जैसी थी। उनके विचार मेरे जैसे लगते थे।... वह स्वतंत्रता का प्रचण्ड योद्धा था। नेपाल में प्रजातंत्र के संघर्ष में उसने हमसे कंधे से कंधा मिलाया। राणा शासन को अपदस्थ करने हेतु नेपाली कांग्रेस ने 1950 ई. में जो सशक्त क्रान्ति छेड़ी थी, उसमें रेणु भी शामिल हो गया और मुक्ति सेना की फौजी वर्दी में मेरे साथ बन्दूक लेकर मोर्चे पर कूद पड़ा। क्रान्ति के समय उसने नेपाली क्रान्ति के प्रचार-प्रसार तथा विराट नगर में स्थापित एक गैरकानूनी आकाशवाणी के संगठन में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की'।

रामबाग चौड़ी, पो.-रमना,
जिला-मुजफ्फरपुर-842002 (बिहार)

छायावादी काव्य में राष्ट्रीय चेतना

डॉ. गार्गीशरण मिश्र 'मराल'

जाने माने लेखक एवं साहित्यकार। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशन।

ऐतिहासिक दृष्टि से जिसे गांधीयुग कहा जाता है। साहित्यिक दृष्टि से उसे ही छायावादी युग की संज्ञा दी जाती है। तात्पर्य यह कि छायावादी काव्य गांधी युग की मिट्टी में ही अंकुरित, पुष्पित और पल्लवित हुआ। गांधी युग राष्ट्रीय चेतना का उत्कर्ष काल था। उस समय भारतीय जनमानस में राष्ट्र-प्रेम का समुद्र हिलोरें मार रहा था। अतः छायावादी काव्य से यह आशा करना स्वाभाविक ही था कि वह अपने युग का प्रतिनिधित्व करते हुये राष्ट्रीय चेतना की पूर्ण अभिव्यक्ति करे किन्तु छायावादी काव्य के संबंध में यह आम धारणा है कि उसने अपने युग को प्रतिबिंबित करने या उसका प्रतिनिधित्व करने की बजाय उसकी उपेक्षा ही की है। इस धारणा की पुष्टि करते हुए कहा जाता है कि जिस समय देश की जनता स्वतंत्रता संग्राम में जूझते हुए अंग्रेजों के अत्याचारों की पीड़ा झेल रही थी, छायावादी कवि स्वप्न लोक में कल्पना की कूची से रंगीन चित्र गढ़ने में लीन थे। इसीलिए छायावादी काव्य को पलायनवादी भी कहा जाता है, जो धरती की वास्तविकताओं से मुँह मोड़कर स्वप्न लोक की सैर में रुचि लेता है।

किन्तु छायावदी काव्य को पलायनवादी काव्य की संज्ञा देना न्यायसंगत नहीं माना जा सकता। यह तो आंशिक सत्य को ही पूर्ण सत्य मान लेने जैसी भूल होगी। जो लोग छायावाद को रहस्यवाद अथवा प्रतीकवाद का पर्याय मात्र समझते हैं अथवा जो इसे केवल अंग्रेजी रोमेंटिक कवियों के अनुकरण पर रचा गया स्वच्छंदतावादी काव्य मानते हैं, वे ही छायावाद को पलायनवादी घोषित करते हैं। इसमें संदेह नहीं कि छायावाद में रहस्यवाद की आध्यात्मिक अनुभूति, प्रतीकवाद की ध्वन्यात्मकता, लाक्षणिकता और प्रतीकात्मकता तथा स्वच्छंदतावाद की आत्मानुभूति की अभिव्यक्ति, कल्पना की अतिशयता, सौन्दर्य के प्रति ललक, उन्मुक्त प्रेम की प्रवृत्ति, विस्मय की भावना तथा रूढ़ियों और बंधनों से विद्रोह की धारणा का समावेश है किन्तु उसमें भारत के सांस्कृतिक तथा राष्ट्रीय नव-जागरण के विविध पक्षों–विवेकानन्द और रामतीर्थ की अद्वैतमूलक भक्ति भावना, रवीन्द्रनाथ ठाकुर के विश्व बंधुत्ववाद, महात्मा गांधी के मानवतावाद, राष्ट्रीयता की भावना और विदेशी शासन के प्रति विद्रोह का भी समावेश है। वस्तुतः छायावाद की मुख्य भावभूमि मानवीय, राष्ट्रीय और सांस्कृतिक है। आचार्य नंददुलारे वाजपेयी के शब्दों में–'छायावादी काव्यधारा का भी एक आध्यात्मिक पक्ष है किन्तु उसकी मुख्य प्रेरणा धार्मिक न होकर मानवीय और सांस्कृतिक है। उसे हम बीसवीं शताब्दी की मानवीय प्रगति की प्रतिक्रिया भी कह सकते हैं।' हिन्दी साहित्यकोश में भी छायावाद के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखा गया है कि 'यदि छायावाद केवल आध्यात्मिक काव्य होता तो उसे अवश्य रहस्यवाद का पर्याय माना जा सकता था। उसी तरह यदि वह केवल प्राचीन रूढ़ियों के विरुद्ध विद्रोह की अभिव्यक्ति होता तो उसे स्वच्छंदतावाद से अभिन्न माना जा सकता था। किन्तु उसकी मूल प्रवृत्ति प्रतिक्रियात्मक नहीं बल्कि रचनात्मक है, जो भारतीय संस्कृति की जीवन्त परम्परा, राष्ट्रीयता की सशक्त आकांक्षा और नवीन मानवतावादी आदर्शों की प्रेरणा से अनुप्राणित है। अतः छायावाद रहस्यवाद, अध्यात्मवाद, स्वच्छंदतावाद, मानवतावाद, राष्ट्रीयता और सूक्ष्म सौन्दर्य बोध आदि विविध प्रवृत्तियों का समग्र रूप है। अर्थात वह उस जागरण युग की प्रबुद्ध आत्मा की काव्यात्मक अभिव्यक्ति है।'

इस नवीन दृष्टिकोण के प्रकाश में छायावादी काव्य का राष्ट्रीय चेतना के साथ संबंध सहज ही जुड़ जाता है किन्तु छायावादी काव्य में राष्ट्रीय चेतना की अभिव्यक्ति को प्रमाणित करने और उसके स्वरूप का निर्धारण करने के पूर्व उचित होगा कि उन कवियों के संबंध में भी हमारी धारणा स्पष्ट हो जावे जिन्होंने छायावादी काव्यधारा के उद्भव और विकास में योगदान दिया है। सामान्यतः छायावादी काव्य की रचना का श्रेय केवल कवि-चतुष्टय के नाम से विख्यात चार कवियों–प्रसाद, निराला, पंत और महादेवी–को दिया जाता है किन्तु यह धारणा समीचीन नहीं है।

किसी भी नवीन काव्यधारा का अविर्भाव और अवसान अचानक या एकाएक नहीं होता। वह अनेक कवियों के क्रमश: योगदान का प्रतिफल होता है। अत: छायावादी काव्यधारा का उत्कर्ष भले ही कवि-चतुष्टय के काव्य में मान लिया जाये किन्तु उसका आविर्भाव और अवसान गढ़ने वाले अन्य अनेक महत्त्वपूर्ण कवि रहे हैं। प्रमुख छायावादी कवि सुमित्रानन्दन पन्त इसी तथ्य को स्वीकारते हुए कहते हैं कि 'छायावादी काव्य के कवि-चतुष्टय तक सीमति कर देना मुझे विचार की दृष्टि से संगत नहीं प्रतीत होता। अभिव्यंजना शैली, भाव-संपदा, सौन्दर्य बोध तथा काव्य-वस्तु आदि की दृष्टि से उस युग के आगे-पीछे अन्य भी अनेक समृद्ध कवि हुए हैं, जो छायावद के उद्भव और विकास में सहायक हुए हैं। उनमें से माखनलाल जी, मुकुटधर पांडे, रामनरेश त्रिपाठी, नवीन जी, सियाराम शरण जी, मोहन लाल महतो, उदयशंकर भट्ट, इलाचंद्र जोशी, डॉ. रामकुमार वर्मा, जानकी वल्लभ शास्त्री आदि अनेक लब्धप्रतिष्ठ कवियों के नाम गिनाये जा सकते हैं।' यह एक निर्विवाद तथ्य है कि पंत जी द्वारा गिनाये गये कवियों ने छायावादी काव्यधारा के उद्भव और विकास में किसी न किसी रूप में अपना योगदान दिया है। अत: इन सभी को छायावादी कवि के रूप में मान्य कर छायावादी काव्य में राष्ट्रीय चेतना की अभिव्यक्ति का अनुसंधान करना उचित होगा।

छायावादी काव्य में राष्ट्रीय चेतना की अभिव्यक्ति की मुख्य तीन भाव-भूमियां हैं–(1) भारत के स्वर्णिम अतीत का गौरव-गान। (2) भारत की वर्तमान दयनीय दशा का चित्रांकन और (3) भारत के उज्ज्वल भविष्य का रूपांकन। इन तीनों भाव-भूमियों को एक सूत्र में बांधने वाला कालक्रम ही नहीं मनोवैज्ञानिक क्रम भी है। किसी भी देश का स्वर्णिम अतीत देशवासियों के लिये प्रेरणा और प्रोत्साहन का अक्षय स्त्रोत होता है। शताब्दियों से गुलामी के बंधन में जकड़े हुए भारतवासियों में व्याप्त हीनता की भावना को दूर कर उनमें आत्मगौरव और आत्मविश्वास का संचार करने के लिये भारत के स्वर्णिम अतीत का गौरवगान आवश्यक था। इसे अपनी पूर्णता तक पहुंचाने के लिये मातृभूमि वंदना, राष्ट्र-प्रेम एवं जागरण-संदेश के गीतों को भी जोड़ा गया है। महाकवि निराला 'खंडहर के प्रति' नामक कविता में भारत के महामानवों का स्मरण दिलाते हुए कहते हैं–

"आर्त भारत! जनक हूं मैं
जैमिनि, पतंजलि, व्यास ऋषियों का,
मेरी ही गोद पर शैशव विनोद कर
तेरा ही बढ़ाया मान
राम-कृष्ण भीमार्जुन भीष्म
नर देवों ने।"

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने 'उर्मिला' प्रबंध काव्य में भारत के अतीत का गौरवगान इस प्रकार किया है–

"पर चलने के पूर्व यहां से
कर ले तू बंदन अभिराम-
इस सरयू सरिता का
जिसकी बालू में खेले हैं राम।
रघु ने जहां तपस्या करके
आर्य धर्म पाला जी भर के
जहां दिलीप सुधन्वा विचरे
राजदंड शुभ कर में धर के।"

राजपूतों के स्वदेश-प्रेम और आत्म-बलिदान का स्मरण दिलाती है। रामकुमार वर्मा की 'चित्तौड़ की चिता' नामक कविता की ये पंक्तियां–

"कभी थे राजपूत अति न्यून
किन्तु था प्रिय स्वदेश अभिमान,
नारियों ने भी ली असि तान
चढ़ाये रण में आत्म-प्रसून।"

'कलम बंधी स्वच्छंद नहीं' से स्पष्ट है कि छायावादी युग में लेखनी पर नियंत्रण था फिर भी छायावादी कवियों ने जागरण और उद्‌बोधन के गीत गाये। 'जागो फिर एक बार' निराला का प्रथम जागरण गीत है। राम नरेश त्रिपाठी अपने 'पथिक' में उद्‌बोधन देते हुए कहते हैं–

"अपना शासन आप करो
तुम यही शांति है सुख है।
पराधीनता से बढ़ जग में
नहीं दूसरा दुख है।"

छायावादी कवियों के राष्ट्रीय प्रगीतों में राष्ट्रप्रेम और मातृभूमि वंदना की सीधी और सहज अभिव्यक्ति हुई है। प्रसाद के 'हिमाद्रि तुंग शृंग से' 'आंगन में उसे प्रथम किरणों का दे उपहार'। निराला के 'भारति जय विजय करे', 'क्या यह वही देश है', 'नर जीवन के स्वार्थ सकल बलि हों, तेरे चरणों पर मां', पंत जी के 'ज्योति देश जय भारत देश', 'भारत माता ग्रामवासिनी' आदि गीतों को प्रमाण स्वरूप प्रस्तुत किया जा सकता है। मातृभूमि की वंदना करते हुए प्रसाद जी गा उठते हैं–

"अरुण यह मधुमय देश हमारा।
जहां पहुंच अनजान क्षितिज को
मिलता एक सहारा।"

निराला तो मातृभूमि को देवी के रूप में प्रतिष्ठित करते हुए कहते हैं–

"भारति जय विजय करे,
कनक शस्य कमल धरे
लंका पदतल शतदल
गर्जितोर्मि सागर जलधोता
शुचि चरण धवलस्तव
कर बहु अर्थ भरे।"

छायावादी काव्य में राष्ट्रीय चेतना की अभिव्यक्ति की दूसरी भावभूमि है भारत की वर्तमान दुर्दशा का चित्रांकन। इसके अंतर्गत कवियों ने इस विडंबना

की ओर संकेत किया है कि जिस भारत का अतीत इतना गौरवमय और समृद्ध था उसका वर्तमान कितना गौरवहीन और दु:खग्रस्त है। पराधीनता, अज्ञानता, गरीबी, अस्पृश्यता, ऊंच-नीच की भावना, अंधविश्वास और उनसे उत्पन्न क्लेशों का चित्रांकन छायावादी कवियों का इष्ट रहा है। पराधीनता का चित्रांकन माखनलाल चतुर्वेदी की 'कैदी और कोकिला' नामक कविता में दर्शनीय है–

"तुझे मिली हरियाली डाली,
मुझे नसीब कोठरी काली।
तेरा नभ भर में संचार,
मेरा दस फुट का संसार।"

यहां यह संकेत स्पष्ट है कि पशु-पक्षी भी परतंत्र भारतीय से श्रेष्ठ हैं। निराला जी 'दिल्ली' नामक कविता में भारत की परतंत्रता की ओर संकेत करते हुए कहते हैं–

"खींचता ही रहा जहां
पृथ्वी के देशों को
स्वर्ण प्रतिमा की ओर
उठा जहां शब्द घोर
संसृति के शक्तिमान दस्युओं का
अदमनीय पुन: पुन: बर्बरता विजय
पाती गई सभ्यता पर संस्कृति पर।"

वियोगी हरि अस्पृश्यता के संदर्भ में उन लोगों पर कटाक्ष करते हैं, जो काली करतूत करने वालों को नहीं काली चमड़ी वालों को अछूत समझते हैं–

"अपनावत अज हूं न जे
अपनेति अंग अछूत।
क्यों करि हवै है छूत वै
करि कारी करतूत।"

गरीबी का चित्र निराला की 'भिक्षुक' कविता में दर्शनीय है। भिक्षुक गरीबी की साक्षात प्रतिमा बन गया है–

"वह आता–दो टूक कलेजे के
करता पछताता पथ पर आता।
पेट पीठ दोनों मिलकर हैं एक,
चल रहा लकुटिया टेक,
मुट्ठी भर दाने को–भूख मिटाने को
मुंह फटी पुरानी झोली को फैलाता।"

भारत की दुर्दशा का चित्र खींचने के पीछे छायावादी कवियों के दो लक्ष्य रहे हैं। दयनीय दशा में पड़े भारतवासियों के प्रति दया-सहानुभूति जगाना और इस दशा के लिए उत्तरदायी विदेशी शासकों के विरुद्ध घृणा और क्रोध जगाना ताकि स्वतंत्रता संग्राम को गति मिल सके। स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए क्रांति के आहवान एवं बलिदान की भावना की अभिव्यक्ति में भी छायावादी कवियों ने रुचि ली है। नवीन जी युवकों को बलिदान के लिये प्रेरित करते हुए कहते हैं–

"है बलिवेदी सखे प्रज्ज्वलित
माँग रही ईंधन क्षण-क्षण,
आओ युवक लगा दो तो
तुम अपने यौवन का ईंधन।
भस्मसात हो जाने दो ये
प्रबल उमंगें जीवन की
अरे सुलगने दो बलिवेदी
चढ़ने दो बलि यौवन की।"

माखनलाल चतुर्वेदी सूली को 'ईसा की शोभा' मानते हुए बलिदान हेतु भारतवासियों का आहवान करते हैं। बलिदान का चरम उत्कर्ष उनकी 'पुष्प की अभिलाषा' नामक कविता में दर्शनीय है–

"चाह नहीं मैं सुरबाला के
गहनों में गूँथा जाऊँ।
चाह नहीं प्रेमी-माला में
बिंध प्यारी को ललचाऊँ।
चाह नहीं सम्राटों के शव पर
हे हरि डाला जाऊँ।
चाह नहीं देवों के सिर पर
चढ़ूँ भाग्य पर इठलाऊँ।
मुझे तोड़ लेना बनमाली
उस पथ में तुम देना फेंक।
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने
जिस पाथ जावें वीर अनेक।"

छायावादी काव्य में राष्ट्रीय चेतना अभिव्यक्ति की तीसरी भावभूमि है। भारत के स्वर्णिम भविष्य की कल्पना। इसमें गांधी की मानवतावादी दृष्टि और रवीन्द्रनाथ की विश्व बंधुत्व की भावना का समावेश है। निराला ने भारत को भविष्य में पराधीनता से युक्त होते दिखाया है–

"आयेगी भाल पर भारत की गई ज्योति,
हिन्दुस्तान मुक्त होगा घोर अपमान से,
दासता के पाश कट जावेंगे।"

पंत जी ने 'युगवाणी' में आदर्श समाज की कल्पना की है–

"रूढ़ि रीतियाँ जहाँ न हों आराधित,
श्रेणी वर्ग में मानव नहीं विभाजित,
धन-बल से हो जहाँ न जन-श्रम शोषण,
पूरित भव-जीवन के निखिल प्रयोजन।"

वसुधैव कुटुंबकम का आदर्श पंत की इन पंक्तियों में दृष्टव्य है–

"क्यों न एक हों मानव मानव सभी परस्पर,
मानवता निर्माण करें जग में लोकोत्तर।"

इस प्रकार स्पष्ट है कि छायावादी काव्य में राष्ट्रीय चेतना की समुचित अभिव्यक्ति हुई है।

1436, सरस्वती कॉलोनी, चेरीताल वार्ड,
जबलपुर-482002 (म.प्र.)

झारखण्ड के संताल परगना का हिजला मेला

डॉ. रामचन्द्र राय

डॉ. रामचंद्र राय शांतिनिकेतन, पश्चिम बंगाल में हिन्दी प्रचार सभा के सचिव हैं। पत्र-पत्रिकाओं में लेखन के माध्यम से पहचान एवं प्रतिष्ठा।

झारखण्ड राज्य के संताल परगना के दुमका जिले के मयुराक्षी नदी के किनारे के पहाड़ की तलहटी में प्रत्येक वर्ष भारतीय पंचाँग के अनुसार फाल्गुन माह के वसंत ऋतु के शुक्ल पक्ष के प्रथम शुक्रवार के दिन आठ दिवसीय एक मेले का आयोजन किया जाता है जिसका समापन समारोह भी शुक्रवार के दिन ही होता है, वह हिजला मेला के नाम से लोक ख्यात है। इस मेले की विशेषता यह है कि इसमें जनजातियों के संताल समुदाय की संस्कृति के उपादान नृत्य-गीत, खेलकूद, संताली परिधान पंछी आदि की झलक मिलती है।

वस्तुत: इस मेले का आरम्भ 3 फरवरी, 1980 ई. से हुआ है। इसकी पृष्ठभूमि सन् 1855-56 का संताल विद्रोह है जिसमें हजारों की संख्या में संताल समुदाय के लोग शहीद हुए थे। इस विद्रोह का नेतृत्व सिदो-कान्हु, तिलका माँझी आदि जैसे संताल सपूतों ने किया था। इतिहास साक्षी है कि पलाशी युद्ध में ईस्ट इण्डिया कम्पनी से इस्लामी शासक की हार के बाद, धीरे-धीरे ईस्ट इण्डिया कम्पनी से भारत का शासन भार ब्रितानी सरकार के हाथ में चला गया। ब्रितानी सरकार ने भारत में प्राचीन काल से चली आ रही शासन-व्यवस्था को नए ढंग से नई तकनीकी के माध्यम से सुधारने का प्रयास किया। इस व्यवस्था में शिक्षा, परिवहन आदि प्रमुख हैं।

भारत मुख्यत: गाँव का देश है। इसकी अधिकांश जनता गाँव में ही रहती है। गाँव के लोगों की जीविका के प्रमुख साधन कृषि कार्य हैं। भारत मुख्यत: आर्येत्तर जातियों का देश रहा है। भारत में आर्यों का आगमन उत्तर भारत के कश्मीर से होते हुए पूरे भारत में हुआ है। आर्येत्तर जातियों की जीविका के मुख्य साधन कृषि कार्य ही था। जब ब्रितानी शासक भारत में आए तब उन्होंने अपनी शासन व्यवस्था को अच्छी तरह से संचालित करने के लिए नियम-कानून बनाए जो आज भी अधिकांश क्षेत्रों में ब्रितानी सरकार के द्वारा बनाए गए नियम-कानून के प्रयोग होते हैं। संताल विद्रोह के कई कारणों में मुख्यत: हर चीज पर अपना कब्जा कर लेने वालों में निष्ठुर महाजन और जमींदारों का शोषण था। अन्य जनजातियों की भांति संताल जनजाति भी मुख्यत: कृषि निर्भर जनजाति है। जनजातियों के लिए भूमि न केवल आर्थिक सुरक्षा उपलब्ध कराती है बल्कि अपने पूर्वजों से संबंध रखने का एक शक्तिशाली सूत्र भी है। अपने पूर्वजों के प्रति संताल अत्यधिक श्रद्धेयवान होते हैं। किसी भी भूमि का स्वामित्व ग्रहण करना अथवा नए गाँव की स्थापना के लिए स्थान का चयन तब तक नहीं किया जाता है जब तक कि अपने

देवी-देवताओं से उसके लिए अपनी अनुमति नहीं प्राप्त कर ली जाती। इस प्रकार जनजाति के लिए भूमि आर्थिक विरासत के अतिरिक्त दैवी विरासत का भी भाग है। जनजातियों की परम्परा के अनुसार अधिकतर भूमि पर सम्पूर्ण ग्राम का अधिकार होता है। उनके लिए व्यक्तिगत भू-स्वामित्व की अवधारणा की जानकारी नहीं थी।

ब्रितानी सरकार ने जनजातियों की भूमि की सुरक्षा के लिए 22 दिसम्बर, 1855 ई. में अधिनियम संख्या 37 के अनुसार दामिन-ए-कोह और आसपास के क्षेत्रों को गैर विनयमित क्षेत्र (Non-Exchangable Zone) बना दिया जिसका नाम संताल परगना काश्तकारी अधिनियम दिया गया।

जनजाति समदुाय के लोग शांति प्रकृति के होते हैं। इस समुदाय की अधिकांश संख्या अशिक्षित, अनपढ़ होने के कारण इन्होंने अनुभव किया कि ब्रितानी शासक हमारी शांति व्यवस्था को भंग करना चाहती है। इसलिए इन लोगों के लिए पारित अधिनियम को समझाने के लिए तत्कालीन उपायुक्त जॉन रॉबर्ट कास्टेयर्स ने दिनांक 3 फरवरी, 1890 ई. को जनजातियों में विशेषकर संताल समुदाय के लिए प्रकृति से आच्छादित मयूराक्षी नदी के किनारे पहाड़ की तलहटी में एक सभा का आयोजन किया जिसमें संताल परगान के संताल जनजाति के लोग आकर सम्मिलित हुए। इस सम्मेलन में उपायुक्त जॉन रॉबर्ट कास्टेयर्स ने उनके कानून (His Law) को समझाने की व्यवस्था की। वहीं हिज लॉ उच्चारण की सुविधा के कारण हिजला मेला के नाम से लोक प्रचलित हुआ है। धीरे-धीरे इस मेले का विकास होता गया जिसमें दुमका जिले के संताल जनजाति, जिनकी संख्या अन्य जनजातियों से अधिक है, उनका समागम होता गया। साथ-साथ इसमें इनकी संस्कृति की झाँकी मुख्य रूप से प्रदर्शित की जाने लगी। इसका अवलोकन करते हुए सन 1977 ई. दुमका के तत्कालीन उपायुक्त ने हिजला के साथ जनजातीय जोड़ दिया। इसके बाद यह मेला जनजातीय हिजला मेला के नाम से प्रचलित हुआ।

सन् 14 नवम्बर, 2000 ई. को बिहार से विभाजित झारखण्ड नामक राज्य का गठन हुआ। झारखण्ड राज्य गठित होने के बाद, झारखण्ड सरकार ने झारखण्ड में आयोजित होने वाले कई पुराने मेलों को राजकीय मेला के रूप में घोषित किया। इस प्रकार सन 19 फरवरी, 2016 ई. से 26 फरवरी, 2016 ई. तक आयोजित होने वाले आठ दिवसीय मेले का नाम राजकीय जनजाति हिजला मेला महोत्सव के नाम से प्रचारित हुआ है। किंतु मेले के स्वरूप में कोई बदलाव नहीं हुआ है। अभी भी इस मेले को देखने के बाद संताल जनजाति की संस्कृति का परिचय सहज रूप में मिलता है।

इस मेले के संबंध में एक आम धारणा प्रचलित है कि अगर कोई राजनेता आकर इस मेले का उद्घाटन करता है तब उन्हें अपनी राजगद्दी खोनी पड़ती है। इसलिए इस मेले का उद्घाटन मेला स्थल के निकट के गाँव के रहने वाले संताल जाति के ग्राम प्रधान जिसे संताली भाषा में माझि हराम कहते हैं वही इस मेले का उद्घाटन करते हैं। आजकल हिजला के नाम से मेला-स्थल के पास का गाँव भी हिजला ग्राम के नाम से प्रचलित है।

सचिव, शान्तिनिकेतन हिंदी प्रचार सभा
रूपान्तर परिसर, रतनपल्ली नार्थ,
शान्तिनिकेतन-731235 (पश्चिम बंगाल)

विस्थापन की समस्या और हिन्दी उपन्यास

लक्ष्मी

दिल्ली विश्वविद्यालय के माता सुन्दरी कॉलेज के हिंदी-विभाग में सहायक प्रोफेसर पद पर कार्यरत। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में इनकी रचनाएँ प्रकाशित।

सार्वजनिक इस्तेमाल के लिए निजी सम्पत्ति के अधिग्रहण का अधिकार प्रमुखता का एक गुण है और यह किसी भी सरकार के अस्तित्व के लिए अनिवार्य है। सर्वोपरि अधिकार का आधार यह सिद्धांत है कि कोई प्रभुतासम्पन्न राज्य जब चाहे सार्वजनिक हित के लिए किसी नागरिक की संपत्ति का अधिग्रहण मालिक की रजामंदी के बगैर कर सकता है।[1]

रामचंद बनाम भारतीय संघ केस के संदर्भ में सर्वोच्च न्यायालय द्वारा 1994 में दिया गया यह बयान ऐसे समय में आता है जब ब्रिटिश शासन द्वारा बनाया गया भूमि अधिग्रहण कानून (लैंड एक्वीजिशन एक्ट, 1894) अपने सौ वर्ष पूरे करता है। राजनीतिक औपनिवेशिक संस्थान के दूसरे रूप वैश्वीकरण के बाद सार्वजनिक हितों के नाम पर जिस बड़ी संख्या में भूमि अधिग्रहण के द्वारा लोग विस्थापित हो रहे हैं, उससे समाज में एक भयावह और विस्फोटक स्थिति पैदा होने लगती है। स्मितु कोठारी द्वारा 1993 में प्रस्तुत किये गये एक पर्चे में यह अनुमान लगाया गया था कि नियोजित विकास परियोजनाओं की वजह से 1950 से लेकर 1990 तक विस्थापित हो चुके लोगों की संख्या 2 करोड़ से ज्यादा है।[2] इस आधार पर वैश्वीकरण के बाद हुए विस्थापन का अनुमान लगाया जा सकता है।

विकास के लिए विस्थापन को अनिवार्य माना गया है और इसके लिए जनता को कष्ट सहने का पाठ पढ़ाया जाता है। 'व्यापक राष्ट्रीय हित' के नाम पर आम जनता को बलिदान देने का पहला भाषण देश के पहले प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू ने दिया था, जब उन्होंने आजादी के चंद महीने बाद भारत की पहली बड़ी नदी घाटी परियोजना उड़ीसा के हीराकुंड बाँध की आधारशिला रखी थी और कहा था कि अगर आपको कष्ट होता है तो राष्ट्र के हित में आपको कष्ट सहना चाहिए।[3]

भुखमरी से त्रस्त कालाहाँडी जैसे जिले के रूप में विश्वविख्यात और खनिजों के भंडार उड़ीसा राज्य के लोग आज तक इस कष्ट को सह रहे हैं। आम लोगों के द्वारा उठाया गया कष्ट का फायदा कुछ चंद घरानों को ही हो पाता है और राष्ट्र का हित राष्ट्र का न होकर धन्नासेठों के हित में तब्दील हो जाता है।

आजादी से लेकर आज तक विकास परियोजनाओं के नाम पर किसान, आदिवासी और शहरी मजदूर विस्थापित होते हैं और उनका यह विस्थापन और उससे उपजा दर्द राज्य का विषय कभी नहीं बनता।

विस्थापित होने वालों में एक बड़ी संख्या आदिवासियों या आर्थिक रूप से कमजोर अन्य ग्रामीण समूहों का है। ये लोग ऐतिहासिक रूप से अपनी आजीविका के लिए प्राकृतिक संसाधनों खासकर जमीन पर निर्भर रहे हैं। आदिवासियों के विस्थापन का प्रतिशत 40 है जबकि कुल आबादी का ये मात्र 7.5 प्रतिशत है। खान का अधिकांश हिस्सा आदिवासी इलाकों में होने के कारण सबसे ज्यादा विस्थापन का शिकार इन आदिवासी समुदायों को होना पड़ता है।

खनन और परियोजनाओं के अलावा वैश्वीकरण के युग में विस्थापन का एक दूसरा प्रमुख कारण विशेष आर्थिक क्षेत्र (सेज) है, जो हजारों एकड़ जमीन को किसान से अधिग्रहित कर अंबानी, बिड़ला और विदेशी कम्पनियों को दिया जा रहा है। बड़े निवेशकों का भरोसा जीतने के नाम पर सेज बिल लोकसभा में 10 मई, 2005 को पेश किया गया था। सेज के माध्यम से उद्यमियों को जहाँ टैक्स में छूट दी गई, श्रम कानूनों को समाप्त किया गया वहीं किसानों की जमीन उद्यमियों को लगभग मुफ्त में दे दी गई। 2006 में 148 सेज को अनुमति भी दे दी गई।

सरकार यह दावा करती है कि सेज से भारतीय अर्थव्यवस्था को काफी फायदा होगा क्योंकि इससे निवेश के साथ-साथ निर्यात को भी बढ़ावा मिलेगा। सच्चाई कुछ और ही है। सेज के कारण यूनियन वाणिज्य मंत्री कमलनाथ और वित्तमंत्री पी. चिदंबरम के बीच विवाद भी पैदा हुआ। वित्त मंत्री के अनुसार सेज से अब 2009-10 के बीच करीब

1,00,000 करोड़ रुपये का राजस्व का घाटा होगा।[4]

सेज से आर्थिक फायदा और नुकसान तो अलग है। इससे बड़ी तादाद में लोगों की जमीन और जीविका छिनने का खतरा है। बंगाल के सिंगूर का उदाहरण विश्वप्रसिद्ध है। जो लोग इस सेज के उत्पाद को खरीद भी नहीं पाएँगे, वही लोग इस विकास का बोझ ढोने वाले हैं। सच तो यह है कि 65 प्रतिशत जनसंख्या वाला कृषि क्षेत्र अगर विकसित नहीं होगा तो विकास संभव ही नहीं है।

विस्थापन का एक और पहलू शहरों के स्लम से संबंधित है। किसी भी शहरी व्यवस्था में बस्तियों को एक बीमारी की तरह देखा जाता है। गंदगी, अपराध आदि का उदाहरण देते हुए ऐसे लोगों को शहर से बाहर बसाकर शहर को सुंदर बनाने के नाम पर उजाड़ा जाता है। शहरों को सुंदर बनाने वाले श्रमिक, घरों को साफ करने वाले कामगार इन बस्तियों में रहते हैं तो इन्हें शहर की गंदगी कहा जाता है। इस विरोधाभासी समाज की यही मध्यवर्गीय और शासकीय समझ है।

अलग-अलग शहरों में स्लमों के नाम अलग-अलग हैं। दिल्ली में झुग्गी-झोंपड़ी, मुम्बई में झोपड़पट्टी, कलकत्ता में चॉल, चैन्नई में चेटी और बंगलौर में केरी। परन्तु सभी शहरों में इनके साथ बर्ताव एक जैसा ही किया जाता है। अर्थात् पहले इनसे शहर को सुंदर बनवा लो और फिर सुंदरता के नाम पर इन्हें भगा दो। विस्थापन इनके जिंदगी की नियति बन चुका है।

लोगों का जमीन पर अधिकार और इसके मुकाबले राज्य की इस संबंध में ताकत राज्य और लोगों के हितों के बीच टकराव का एक अच्छा उदाहरण है। राज्य अपनी ताकत का प्रयोग कर इन्हें विस्थापित करता है और कोई इनको चुनौती नहीं दे सकता। सरकार, अदालत और नौकरशाही के गठजोड़ से हजारों लाखों लोगों की आजीविका प्रभावित होती है। केवल बेरोजगारी ही नहीं बढ़ती, बल्कि जमीन से अलगाव इनके जीवन में कई तरह की सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक परेशानियों को भी लेकर आता है।

विस्थापन को हमेशा विकास का पर्याय मानने के कारण इसका विरोध करने वालों को राष्ट्रविरोधी या विकास विरोधी ठहराया जाता है। ऐसी स्थिति में विकास की अवधारणा पर चर्चा करना आवश्यक है। 'मानव विकास रपट (2003) में एक गम्भीर चेतावनी दी थी कि वर्तमान गति से जो तथाकथित विकास हो रहा है, उससे दक्षिण एशिया में भूख के स्तर को आधा करने में एक सौ वर्ष लगेंगे।'[5]

लाखों लोगों को भूख की कगार पर पहुँचाकर कुछ लोगों को फायदा पहुँचाना, यह विकास नहीं कहलाता। मानव विकास की यह रपट सरकारों की मंशा और विकास के हकीकत को दर्ज करती है।

जिन इलाकों में विस्थापितों को बसाया जाता है उनका ढंग से कोई सामाजिक, आर्थिक और भौगोलिक सर्वेक्षण नहीं किया जाता। दिल्ली के संदर्भ में यह रपट महत्त्वपूर्ण है–'यह जमीन कभी भी आवास के लिए निर्धारित नहीं की गयी थी। 1000 हेक्टेयर की इस जमीन की सतह बगल में बह रही जमुना से 10 से 12 फीट नीचे है। झुग्गी-झोंपड़ियों से उजाड़े गए लोगों को यहाँ बसाने का विरोध किया। इसके बावजूद डी.डी.ए. ने 13 करोड़ रुपये खर्च करके इस गड्ढे को भरवाया जिससे गरीबों को कूड़े के ढेर पर फेंका जा सके।[6]

विस्थापितों को बसाने में दूसरी प्रमुख समस्या काम के क्षेत्र से दूरी है। काम के क्षेत्र से दूर विस्थापित किए जाने के कारण उनकी आजीविका का साधन मजदूरी भी संकट में आ जाती है। परिणामत: विस्थापन इनके यहाँ सामाजिक और आर्थिक तनाव को जन्म देता है। सच तो यह है कि मजदूर, किसान और आदिवासी अपने एक ही जीवन में कई बार विस्थापन का शिकार होते हैं। सरकार का ध्यान तो इन पर है ही नहीं, लेकिन इनकी समस्याओं पर हिन्दी साहित्यकारों ने भी कम ही लिखा है।

हिन्दी साहित्य में इन समस्याओं को साहित्य का विषय बनाने का काम जगदीशचंद्र, भीष्म साहनी और वीरेन्द्र जैन आदि साहित्यकारों ने किया है। ये साहित्यकार आदिवासी, किसान और मजदूरों के विस्थापन की समस्या को राजनीतिक आर्थिक और सांस्कृतिक फलक में देखते हैं और इन समस्याओं का गहराई से विश्लेषण करते हैं।

आदिवासियों और किसानों की जमीन को बाँध बनाने के नाम पर सरकार द्वारा अधिग्रहित किया जाना और उससे उत्पन्न हुई समस्या को वीरेन्द्र जैन के उपन्यास 'पार' के माध्यम से आसानी से समझा जा सकता है। इसमें बेतवा नदी (मध्य प्रदेश) के पास बसे आदिवासी इलाके में बाँध बनाने से वहाँ के लोगों का अस्तित्व किस प्रकार खतरे में पड़ गया है, इसे दिखाया गया है। किसानों को अपनी जमीनें जाने का भय सताने

लगता है। इसी भय को एक किसान इस प्रकार व्यक्त करता है–'अपनी जमीन से आसानी से अलग नहीं होता किसान। लोभ से नहीं, भय से नहीं, मोह से बँधा होता है वह अपनी जमीन से। जमीन से किसान का मोह मौत छुड़ा पाती है या फिर किसी साहूकार का कर्ज या फिर अब छुड़ाने लगाने है सरकारी भय और छल। इनकी काट नहीं किसी के पास।'[7]

किसान की यह पीड़ा स्पष्ट करती है कि किसानों को जितना भय साहूकार और महाजनों से लगता था उतना ही या फिर कहें उससे भी अधिक भयभीत वे देश की सरकार से हैं, क्योंकि उनके पास सरकार की ताकत से लड़ने का सामर्थ्य नहीं है। किसानों के साथ-साथ जंगलों में बसने वाले आदिवासियों की दशा और अधिक दयनीय है। उनका तो समस्त जीवन जंगलों पर ही टिका हुआ है और यदि जंगल ही नहीं होंगे तो वे कहाँ जाएंगे। वे तो इस काबिल भी नहीं हुए कि तथाकथित सभ्य समझे जाने वाले समाज का हिस्सा बन सकें। बेतवा नदी पर बाँध बनने से जंगल का एक आदिवासी अपनी कथा को व्यक्त करते हुए कहता है–

"बता तू ही कि कितना भटकने के बाद जलावन मिलता है। गाढ़ मिलती है, शहद मिलता है। जड़ी-बूटियाँ तो जाने कहाँ समाती जा रही हैं। हम भले ही हरा-भरा रुख नहीं काटते। वह देवता है हमारी निगाह में। हमारा पालनहार। पर फिर भी हरे-भरे रूख बच पाए? हम उनका कटना रोक पाए? रोक पाओगे कभी?"[8]

जिस जंगल में आदिवासी जनता की जान बसती है। जहाँ जंगल उनके देवता के समान हैं। आज वे चाहकर भी उसकी रक्षा करने में असमर्थ हैं। क्योंकि वे जानते हैं कि उनके जंगलों को छीनने वाले उनसे कई गुणा ताकतवर हैं। जिनका सामना करने का सामर्थ्य उनके बूते के बाहर की बात है। ऐसी आदिवासी जनता कैसे अपने आप को यहाँ के अन्य समाज से जोड़कर देख सकती है।

विकास के नाम पर विस्थापन का सच एक अन्य रूप में भी सामने आता है, जिसे जगदीश चंद्र के उपन्यास 'घास गोदाम' और मुट्ठी भर काँकर' में देखा जा सकता है।

इन उपन्यासों में 1947 के बाद की दिल्ली के आस-पास के गाँवों का वर्णन है। इन गाँवों के लोगों की जिन्दगी में उस समय तूफान आ जाता है, जब उन्हें अचानक एक दिन बताया जाता है कि पाकिस्तान से भारत आए लोगों को बसाने के लिए सरकार उनकी जमीनों का अधिग्रहण कर रही है। ऐसे में मुखिया का कथन उनके दर्द को व्यक्त करता है। 'अगर सरकार ने हमारी जमीनें ले लीं तो गजब हो जायेगा। पटवारी जी, हम भूखे मर जाएंगे।... कहाँ जाएंगे... कहाँ रहेंगे... क्या काम करेंगे?"[9]

विस्थापित होने का दर्द जमीन के मोह तक ही संबंधित नहीं है, बल्कि रहना, खाना, नौकरी जैसी जरूरी चीजें उन्हें अपने भविष्य में अनिश्चित लगने लगते हैं और आने वाली पीढ़ी के अंधकारमय भविष्य को देखकर वे काँपने लगते हैं। 'गरदावर जी, मेरी तो उम्र कट गई है। जो थोड़ी बहुत रहे सै वह कट जायेगी। लेकिन जमीनें छिन गई तो बच्चों का क्या होगा? यह सोचते ही आँखों के आगे अंधेरा छा जावे से।'[10]

किसान के लिए जमीन ही उसके जीवन का आधार होती है। जमीन उसकी पहचान और स्वाभिमान होती है। ऐसे में जमीन का न होना उनके लिए मौत से भी भयावह है।

भूमि अधिग्रहण की प्रक्रिया में कुछ ही धनी किसान अपने अस्तित्व को बचाकर रख पाते हैं। मध्यम किसान और निम्न एवं भूमिहीन किसानों का तो सब कुछ ही नष्ट हो जाता है। मध्यम किसान अधिग्रहण के नाम पर सरकार द्वारा दिखाए गए हवाई सपनों में ऐसा बह जाता है कि कड़वी सच्चाई उसे दिखाई ही नहीं देती और जब वह होश में आता है तब तक बहुत देर हो चुकी होती है। मुआवजे के रूप में मिले धन के कारण वे कई गलत प्रवृत्तियों के शिकार हो जाते हैं। गाँव का सामान्य जीवन कई प्रकार की विसंगतियों का शिकार हो जाता है। अधिकांश किसानों के रोजगार का कोई अन्य साधन न हो पाने के कारण उन्हें शहरों व नगरों में मजदूर बनने को विवश होना पड़ता है। जगदीश चंद्र अपने उपन्यास 'घास गोदाम' में इसे इस प्रकार रेखांकित करते हैं–'गाँव के जीवन में बहुत परिवर्तन आ गया था। कोई एक चौथाई लोग गाँव छोड़ गए थे। कुछ परिवार अपनी जमा-पूँजी खा-पीकर शकूरबस्ती चले गये थे और वहीं झुग्गी-झोपड़ी कॉलोनी में रहने लगे थे। कुछ लोग थे तो गाँव में ही, लेकिन काम बाहर करते थे। उनके पास बेचने के लिए अब मेहनत के सिवाय और कुछ भी नहीं रह गया था।'[11]

गाँव से बाहर निकलकर किसान मजबूरीवश शहर की बस्तियों में जाकर रहता है और वहाँ मजदूरी कर अपना जीवन पालता है। सरकारें इन्हें यहाँ भी टिकने नहीं देती।

भीष्म साहनी अपने उपन्यास 'बसन्ती' में झुग्गी-झोंपड़ी उजड़ने की व्यथा को ही दर्शाते हैं। लेखक उपन्यास की शुरुआत ही लोगों की इस चिन्ता से करते हैं कि उन लोगों की बस्ती बनी रहेगी या उजाड़ दी जाएगी। उपन्यास की पात्र बसन्ती का पिता बस्ती के एक लड़के से पूछता है–'क्या हे रे मनवा?' चौधरी ने भागते हुए लौंडे से कहा, 'पुलिस आई है, सड़क पर लारियाँ ही लारियाँ हैं। वे घर गिराएंगे।'[12]

स्पष्ट है कि क्या जंगल, क्या गाँव, क्या शहर लोगों के घर बनाने वाले खुद

बेघर होकर भटकते रहते हैं और अपने घरों, शहरों, गाँवों और देश में रहकर पराए हो जाते हैं। विकास की कीमत देश की जनता को बार-बार चुकानी पड़ती है। यदि यह विकटी की शर्त है तो क्या हमें ऐसे विकास का समर्थन करना चाहिए।

साहित्य अकादेमी के व्याख्यानमाला में गोविंद चंद पांडे का यह वक्तव्य सार्थक लगता है कि समाज के अन्याय के प्रति सही अभिव्यक्ति समाज सेवा और राजनीतिक संघर्ष के द्वारा ही संभव है।... दु:ख का अनुभव विश्वजनीन है। कवि जीने के दु:ख, अन्याय और रहस्य को अनासक्त सहानुभूति से देखते हुए उन मूल्यबिम्बों की कल्पना करता है जो दु:खी मन को अवलम्ब और प्रेरणा देते हैं। दु:खी जनता स्वयं साहित्य के अंदर अपने को मानो अपने से बाहर आकर देखती है।

वीरेन्द्र जैन, जगदीशचंद्र और भीष्म साहनी जैसे कथाकार अपनी इसी सामाजिक जिम्मेदारी का निर्वाह करते हैं ताकि विस्थापित लोगों के दर्द को समाज, सरकार और बुद्धिजीवी समझ सकें।

संदर्भ–

1. किसका राष्ट्र? विकास बनाम विस्थापन: स्मितु कोठारी, रेनबो पब्लिशर्स, दिल्ली, 1996, पृष्ठ 07
2. विस्थापन का विकास: साम्राज्यवादी भूमंडलीकरण के आतंक, आरडीएफ प्रकाशन, कुरुक्षेत्र, 2007, पृष्ठ 03
3. दी बॉम्बे क्रानिकल, 12 अप्रेल, 1948, स्त्रोत किसका राष्ट्र? विकास बनाम विस्थापन, स्मितु कोठारी।
4. कहाँ गये वे लोग : विकास और विस्थापन, द पर्सपेक्टिव टीम, दिल्ली, 207, पृष्ठ 87
5. विकास का समाजशास्त्र : सुभाष शर्मा, प्रकाशन संस्थान, दिल्ली-2012, पृष्ठ 43
6. किसकी दिल्ली, किसकी शान, नागरिक महामारी जाँच समिति रिपोर्ट, दिल्ली 1988, पृष्ठ 28
7. पार, वीरेन्द्र जैन, वाणी प्रकाशन, दिल्ली-1998, पृष्ठ 101
8. पार, वीरेन्द्र जैन, पृष्ठ 51
9. जगदीशचंद्र रचनावली, खंड-2, संपादक: विनोद शाही, आधार प्रकाशन, पंचकूला (हरियाणा), 2011, पृष्ठ 25
10. जगदीश चंद्र रचनावली, खंड-2, पृष्ठ 267
11. जगदीश चंद्र रचनावली, खंड-2, पृष्ठ 611
12. बसन्ती, भीष्म साहनी, 1996, पृष्ठ 32

डी-1/44/6, डी.एल.एफ.,
गाजियाबाद-201005 (उत्तर प्रदेश)

रचनाकारों से अनुरोध

- कृपया अपनी रचना ए-4 आकार के पेज पर ही टाइप कराकर भेजें। ई-मेल द्वारा प्रेषित रचना यूनिकोड में टंकित करें या रचना के साथ टंकित फॉन्ट अवश्य भेजें।
- रचना अनावश्यक रूप से लंबी न हो। शब्द-सीमा 3000 शब्दों तक है।
- रचना के साथ लेखक अपना संक्षिप्त जीवन-परिचय भी प्रेषित करें।
- रचना के साथ विषय से संबंधित चित्र अथवा कहानी के साथ विषय से संबंधित कलाकृतियां (हाई रेज्योलेशन फोटो) अवश्य भेजें।
- रचना भेजने से पहले उसे अच्छी तरह अवश्य पढ़ लें।
- यदि संस्कृत के श्लोक अथवा उर्दू के शेर आदि उद्धृत किए गए हैं तो वर्तनी को कृपया भली-भांति जांच लें।
- ध्यान रखें कि भेजी गई रचना के पृष्ठों का क्रम ठीक हो।
- यदि फोटो कॉपी भेज रहे हों तो यह सुनिश्चित कर लें कि वह सुस्पष्ट एवं पठनीय हो।
- रचनाएं किसी भी दशा में लौटाई नहीं जाएंगी। अतः उसकी प्रतिलिपि (फोटो कॉपी) अपने पास अवश्य सुरक्षित रखें।
- स्वीकृत रचनाएं यथासमय प्रकाशित की जाएंगी।
- रचना के अंत में अपना पूरा पता, फोन नंबर और ई-मेल पता स्पष्ट शब्दों में अवश्य लिखें।
- आप अपने सुझाव व आलोचनाएं कपया ddgnk.iccr@nic.in, pohindi.iccr@nic.in पर संपादक को प्रेषित कर सकते हैं।

हास्य सम्राट काका हाथरसी

डॉ. सुरेन्द्र गुप्त

लेखक जाने-माने पत्रकार व अनुवादक हैं। शिक्षा एम.ए., पी-एच.डी.। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में लेख, लघुकथाएं प्रकाशित।

बहुमुखी प्रतिभा के धनी, व्यंग्य एवं हास्य सम्राट, सजग, सार्थक एवं सचेतन कवि 'काका हाथरसी' में अभिनय, संगीत तथा पेन्टिंग का भी अनूठा मिश्रण विद्यमान था। पद्मश्री से सम्मानित काका हाथरसी ने अपने हास्य-व्यंग्य की फुहारों से हिन्दी भाषा को कई दशकों तक समृद्ध किया और जन-जन को अपनी रचनाओं से सराबोर करते हुए अपना दिवाना बना कर रखा। व्यक्ति और समाज के प्रति उनकी गहरी आस्था मरते दम तक रही। उनका पूरा रचना-संसार इस बात का गवाह है कि वह साहित्य और समाज के आपसी रिश्तों के पैरोकार थे। हास्य के जनक श्रद्धेय काका हाथरसी का जन्म 18 सितम्बर 1906 को तथा संसार से महाप्रयाण भी उसी तिथि अर्थात् 18 सितम्बर को ही 1995 की प्रात: ब्रह्म मुहूर्त में हुआ। यह संभवत: बहुत ही कम किसी ही विलक्षण विभूति के साथ घटित हुआ होगा।

अपने ही जन्म दिन पर उन्होंने कुछ पंक्तियाँ लिखी–'जब हाथरस में हास्यरस ने अवतार लिया, समस्त नगरी सो रही थी। जन्म लेते ही हाथरस में हैजा, मथुरा में मलेरिया, पटना में पीलिया, फतेहपुर में फ्लू, नागपुर में निमोनिया, चन्दौसी में चेचक तथा पीलीभीत में प्लेग और बिजनौर में बवासीर की

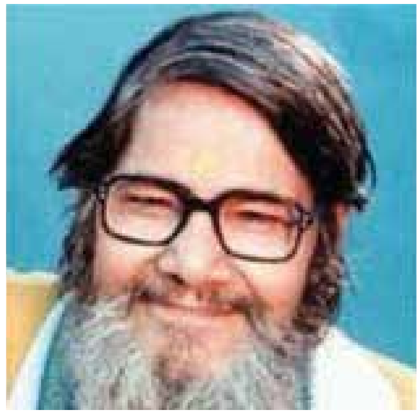

बीमारियाँ फैल गई। राजस्थान में सूखा और बिहार में बाढ़ आ गई। दो-तीन दिन बाद भोपाल में भूकम्प के झटके लगे। जीवन के साठ दिन पूरे होते ही पिताश्री इस संसार को त्याग स्वर्ग सिधार गये। ऐसे अवतरण हुआ काका का इस संसार में।'

काका कोई खास पढ़ाई नहीं कर पाये थे। पन्द्रह-सोलह वर्ष की आयु में ही पढ़ाई छोड़ एक आढ़त की फर्म में नौकरी कर ली और जल्दी ही एक सेठ के यहाँ मुनीम लग गये और पच्चीस रुपए प्रति माह कमाने लगे। वहाँ भी अधिक देर तक चल नहीं पाये और छँटनी के चक्कर में आ गये। एक मित्र के सहयोग से पेंटिंग में किस्मत आजमाई और साईनबोर्ड बनाने का कार्य करने लगे। यह भी रास नहीं आया। अपने एक मित्र पं. नन्दलाल शर्मा के सहयोग से ही 'संगीत' पर एक पुस्तक लिख डाली, जिससे हारमोनियम, तबला तथा बाँसुरी में रुचि रखने वालों को शिक्षा मिल सके। किन्तु पास में फूटी कौड़ी भी नहीं थी, मात्र अस्सी रुपए पास बुक में थे। पुस्तक की बिक्री करके प्रेस का बिल चुकाया गया। 'संगीत' में लोक रुचि को देखते हुए 1935 में आपने 'संगीत' मासिक पत्रिका का प्रकाशन भी आरम्भ किया।

काका हाथरसी का दैनिक जीवन अनुशासन का एक अद्वितीय नमूना था। वह सुबह-शाम 14 कि.मी. का भ्रमण नियम से किया करते थे। आँधी हो, बरसात हो, तूफान हो, वह कभी रुके नहीं। ब्रह्म मुहूर्त में प्रात: जब वे सड़क पर निकलते तो लोग अपनी घड़ियाँ मिला लिया करते थे। रोज एक कि.मी. की दौड़, फिर नहर की पटरी पर बैठ कर प्राणायाम और ध्यान तथा घर लौटते समय नीम की पत्तियाँ चबाना उनकी नित्यप्रति की सूची में शामिल था। सैर से आकर दैनिक समाचार अवलोकन और फिर काव्य रचना अर्थात् अपने तुणीर से कुण्डलियाँ, फूलझड़ियों के व्यंग्य बाण छोड़ना, उसके उपरान्त स्नान तथा नाश्ता। दोपहर को दो घंटे का विश्राम, कोई तैल चित्र तैयार करना, सायं की सैर, समाचार सुनना आदि यह सब नियम से होता था। खाने का जो समय तय था, खाना उसी समय चाहिये, मजाल है उसमें कहीं कुछ विलम्ब हो जाये। यदि कोई आगन्तुक असमय ही उनके पास आ जाता था तो उसे समय की सीमा का ध्यान रखते हुए बिना हिचकिचाहट स्पष्ट रूप से जाने के लिये कह देते थे।

जिन दिनों स्वतंत्रता आन्दोलन चल रहा था काका ने भी अंग्रेजों पर व्यंग्य बाण छोड़े, जिसके फलस्वरूप उन्हें पकड़ कर कुछ घंटे जेल में भी रखा गया। आप गाँधी जी से विशेष रूप से प्रभावित थे। गाँधी जी से प्रभावित होकर उन्होंने सिर पर टोपी धारण कर ली तथा बकरी भी रख ली और खद्दर के कपड़े भी पहनने लगे।

काका भगवान विष्णु के अनन्य भक्त थे और गंगा जी में उनकी अगाध श्रद्धा थी। काका के मन में धन के प्रति कोई विशेष आकर्षण नहीं था। जितना भी अर्जित करते थे सब कुछ प्रकाशन-संस्थान या ट्रस्ट में ही लगाते रहे। उन्हें कुर्ता, धोती या पायजामा पहनना ही अत्यंत प्रिय था। सरलता और सादगी उनके आभूषण थे। उन्होंने आयु भर न तो कोई जमीन खरीदी और न ही कोई जायजाद बनाई।

उनकी पहली कविता 'गुलदस्ता' को 'चांद' के सम्पादक श्री आर. सहगल ने प्रथम पृष्ठ पर छापा था। वह कविता उनके वास्तविक नाम 'प्रभुलाल गर्ग' के नाम से ही छपी थी। एक बार हाथरस की अग्रवाल नवयुवक सभा में, अग्रसेन जयन्ती के अवसर पर एक एकांकी प्रहसन ने इन्हें 'विलेन' की भूमिका का दायित्व दिया गया। उसके सफल प्रदर्शन पर इन्हें पुरस्कार भी मिला। अगले रोज वाहवाही के अन्दाज में लोगों ने इन्हें 'काका' के नाम से सम्बोधित किया, 'वाह रे काका रात में तो मजा काट दियो' बस यहीं से आप 'काका' बन गये।

काका ने मंच पर अपनी पहली कविता सन् 1936 में पढ़ी और प्रमाण-पत्र भी प्राप्त किया। 1957 में पहली बार लालकिला-सम्मेलन के कवि सम्मेलन में कविता पढ़ने का निमन्त्रण मिला। इनकी कविता पर गोपालदास व्यास ने अपनी टिप्पणी दी, 'काका तुम्हारा झण्डा लालकिले पर गढ़ गया'। उसके बाद काका के झण्डे गढ़ते चले गये।

काका की हास्य व्यंग्य की 50 पुस्तकें तथा संगीत कला पर चार ग्रन्थ प्रकाशित हुए। संगीतज्ञों तथा प्रकृति के 150 तैल चित्रों का भी आपने सृजन किया। इसके अलावा आपने संगीत तथा साहित्य संबंधी 200 पुस्तकों को भी प्रकाशित किया।

1966 में काका हाथरसी हीरक जयन्ती समारोह में, भारत सरकार के तत्कालीन सूचना एवं प्रसारण मन्त्री द्वारा आपको सम्मानित किया गया। इसके अलावा भी आपको पूरे भारतवर्ष में कितनी ही संस्थाओं द्वारा पुरस्कारों/सम्मानों से नवाजा गया, जिनमें 1976 में उनकी 70वीं वर्षगाँठ पर भारत सरकार के केन्द्रीय मन्त्रियों द्वारा सम्मान एवं 500 पृष्ठों के काका हाथरसरी अभिनन्दन ग्रंथ का विमोचन, 1979 में तत्कालीन उपराष्ट्रपति श्री बी.डी. जत्ती द्वारा 'कलारत्न' तथा 1985 में भारत सरकार द्वारा पद्मश्री से अलंकृत किया जाना भी शामिल है।

सच्चे रचनाकार की तरह उनकी उँगलियाँ सदैव वक्त की नब्ज पर रही। समाज में हो रहे व्यापक बदलावों से उनकी कलम हमेशा सजग, सचेत रही। यही कारण है उन्होंने समाज की विषमताओं और कुरीतियों को बहुत ही धारदार और असरदार शैली में प्रस्तुत किया। समाज में, राजनीतिक क्षेत्र में पनप रहे भ्रष्टाचार, स्वतंत्रता के प्रति जागरूकता, जनसंख्या की समस्या, देश-विदेश की घटनायें, हड़ताल और चुनाव जैसे समसामयिक विषयों को लच्छेदार भाषा का मुलम्मा चढ़ा कर और हास्य-व्यंग्य की चाशनी में डुबो कर जिस अंदाज से उन्होंने जनता को परोसा, वह वास्तव में बेजोड़ है, अतुलनीय है।

कवि सम्मेलनों में वह मस्ती में आकर एक मनमौजी की तरह जब अपनी कविताओं का रसपान कराते थे जो जनता मन्त्रमुग्ध हो कर लोटपोट होकर हँसती रहती थी। हास्य-व्यंग्य के बिना तो जैसे कवि सम्मेलन अक्सर पिट ही जाते थे। और जिस कवि सम्मेलन में काका नहीं, वह तो जम ही नहीं पाता था। आपने अपने देश में ही नहीं अपितु विदेशों में आयोजित कवि सम्मेलनों में भी खूब धूम मचाई। हास्य रस के खूब जम कर चौके-छक्के लगाये। उन्हें मंच पर देखते ही जनता हँसी के फव्वारों से भीगने लगती।

उन्होंने हास्य-व्यंग्य के कवियों और संगीतज्ञों के लिये एक ट्रस्ट बना कर 'काका हाथरसी' पुरस्कार की स्थापना की।

काका हाथरसी अपने निधन से एक महीने पहले काफी निरुत्साहित हो गये थे। वे कई बार कहते–'अब उनकी जीने की इच्छा नहीं है। खूब आनन्द ले लिया, पूरा संसार देख लिया। चारों सुख जो शास्त्रों में बताये गये हैं, वे उन्हें प्राप्त हैं। बस यहीं से उनका स्वास्थ्य गिरता चला गया। धीरे-धीरे वह चेतन-हीन होने लगे। तब उन्हें आगरा के जी.डी. नर्सिंग होम में दाखिल करवाया गया।

नर्सिंग होम में पहुँचते ही यह बात आग की तरह फैल गयी कि काका हाथरसी नर्सिंग होम में भर्ती हैं। जिसे भी पता चलता वह इनके कमरे की ओर दौड़ा चला आता। उस वक्त जब इन्हें रक्त की जरूरत पड़ी, तो अखबार में निकलवाया गया। उनके रक्त ग्रुप के दर्जनों लोग रक्त देने के लिये लाईन में लगे थे। नर्सिंग होम जैसे एक मेला-स्थल बन गया था।

उनकी हालत सुधर नहीं रही थी। तभी एक दिन तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री पी.वी. नरसिंह राव का फोन आया,

दूसरे दिन काका जी के शीघ्र स्वास्थ्य लाभ के लिये उनका तार भी प्राप्त हुआ। फिर अगले ही दिन आगरा के संयुक्त जिलाधीश अस्पताल पहुँचे गये और डॉक्टरों को बताया कि प्रधानमन्त्री महोदय का आदेश है कि काका को उत्तम से उत्तम चिकित्सा प्रदान की जाये, चाहे कितना भी पैसा क्यों न लग जाये। परन्तु वह चेतना शून्य होते चले गये। 18 सितम्बर, 1995 की प्रात: 2 बज कर 45 मिनट पर ब्रह्म मुहूर्त में उन्होंने अन्तिम हिचकी ली और अपनी देह त्याग दी।

काका को ऊँट बहुत ही पसन्द था। उनकी अन्तिम यात्रा का विमान ऊँट पर ही सजाया गया। उस दिन हाथरस के सभी बाजार बन्द रहे। उनके अन्तिम दर्शनों के लिये दूर-दूर तक भीड़ ही भीड़ दिखाई देती थी। बच्चे-बूढ़े, औरतें-मर्द, अपने-अपने घरों की छतों पर, छज्जों पर खड़े थे। उन पर फूलों की वर्षा हो रही थी, सुगन्धित जल का छिड़काव किया जा रहा था। काका ने कहा था कि उनकी मृत्यु पर कोई रोए नहीं, बल्कि ठहाके लगाये जायें। उधर उनके बेटे लक्ष्मीनारायण गर्ग ने चिता में अग्नि प्रज्ज्वलित की, उधर साथ ही काव्य प्रेमियों ने कवि सम्मेलन का आयोजन कर डाला। काका को सभी ने अपनी-अपनी भाव-भीनी श्रद्धांजलियाँ समर्पित की तथा ठहाके लगाने वाली रचनाओं का पाठ किया। औरतें अपने बच्चों को गोद में उठाए वहाँ पर उपस्थित थीं। एक मेले का सा माहौल था। इस प्रकार काका जी अपने काव्य संसार के साथ विदा हो गये।

यहाँ उनकी कुछ उत्कृष्ट रचनाओं के अंश उद्धृत हैं–

"काका से कहने लगे, ठाकुर ठर्रासिंह
दाढ़ी स्त्रीलिंग है, ब्लाउज है पुल्लिंग।
ब्लाउज है पुल्लिंग, भयंकर गलती की है,
मर्दों के सिर पर टोपी, पगड़ी रख दी है।"

उन्होंने ऊँट पर जीवन की विसंगतियों को भी बहुत खूबी से उभारा है–

"यह ऊँट ब्लैक करने में माहिर है
यह ऊँट रिश्वतखाने में जगजाहिर है
यह पंजाबी ऊँट है,
चाहता पंजाबी सूबा
यह वियतनाम का ऊँट,
युद्ध की आग बढ़ाता है
यह अमरिकन ऊँट,
आग में घी टपकाता है।"

राष्ट्रभाषा के प्रति उपेक्षा को उन्होंने इस कद्र व्यक्त किया–

'बटुकदत्त से कह रहे, लटुकदत्त आचार्य,
सुना? रूस में हो गई है, हिन्दी अनिवार्य
है, हिन्दी अनिवार्य राष्ट्रभाषा के चाचा
कहें 'काका' जो ऐश कर रहे रजधानी में
नहीं डूब सकते क्या चुल्लू भर पानी में।"

वोट की राजनीति और न्यायालय में पनप रहे भ्रष्टाचार पर व्यंग्य देखिए–

'एक्सपर्ट इस आर्ट में, कर बुर्के की ओट
दे सकते हैं आपको, मुर्दों के कुछ वोट,
मुर्दों के कुछ वोट, नोट जब पा जाते हैं
'मिया वहीद' वहीदना बनकर आ जाते हैं।

****

न्याय प्राप्त करने आये,
न्यायालय के द्वार,
इसी जगह सबसे अधिक
पाया भ्रष्टाचार
पाया भ्रष्टाचार,
मिसल को मसल रहे हैं
कह काका,
जब पेशकार जी घर आये
तनखा से भी तिगुने
नोट दबा कर लाये।"

दामाद की परिभाषा देखिए–

'कितना भी दीजिये,
तृप्त न हो यह शख्स
तो फिर यह दामाद है
अथवा लैटर बक्स
अथवा लैटर बक्स,
मुसीबत गले लगा ली
नित्य डालते रहो,
किन्तु खाली का खाली।"

समग्रत: काका की हास्य-व्यंग्य की स्मृतियाँ जनमानस के हृदय में हमेशा अंकित रहेगी। अपनी अद्वितीय प्रतिभा, काव्य साधना और जीवन की सच्चाइयों तथा गहरी अनुभूतियों के आधार पर वे अंत तक सारी दुनिया को हँसाते-हँसाते लोट-पोट करते रहे। उनकी रचनाओं में शैली का अनूठापन तो देखने को मिलता ही है, पर शब्दों को तीखे, पैने तथा धारदार परिधान ओढ़ाकर अधिकारपूर्वक हास्य-व्यंग्य के साथ फिट करना ही उन्हें अमर कर गया। हिन्दी जगत के इस हास्य-सम्राट को शतशत नमन।

आर.एन.-7, महेश नगर,
अम्बाला छावनी-133001

पहला स्वाधीनता संग्राम और नर्मदा क्षेत्र के आदिवासी

डॉ. हीरालाल बाछोतिया

कवि, लेखक, भाषाविद्। एन.सी.ई.आर.टी. में एसोसिएट प्रोफेसर तथा हिन्दी प्रकोष्ठ के अध्यक्ष रहे। अब अवकाश प्राप्त। देश के दूरस्थ क्षेत्रों की यात्राओं से लेकर यूरोप, अमेरिका, वेस्ट इंडीज (ट्रिनिडाड) की यात्राएँ। हिन्दी अकादमी के साहित्यकार सम्मान सहित अनेक सम्मान-पुरस्कार। प्रमुख प्रकाशित कृतियाँ–पाँच, यात्रा/यायावरी–तीन पुस्तकें। भाषा-भाषिक–तीन पुस्तकें। शिक्षा–दो पुस्तकें। शोध-समीक्षा–दो पुस्तकें। संपादन–तीन पुस्तकें। इसके अलावा सौ से अधिक पाठ्य-पुस्तकों, दर्शिकाओं, अभ्यास पुस्तिकाओं का निर्माण।

जिसे नर्मदा घाटी क्षेत्र कहा जाता है वह 1818 में अंग्रेजों द्वारा घोषित सागर-नर्मदा क्षेत्र का हिस्सा था। 1817-18 में अप्पा साहब भोंसले की पराजय के बाद मराठों का पराभव हो चुका था और इस क्षेत्र पर अंग्रेजों का कब्जा हो गया था। इसमें जबलपुर, मंडला, सिवनी, बैतूल, होशंगाबाद, नरसिंहपुर, सागर और दमोह जिले शामिल थे। बाद में निमाड़ क्षेत्र भी नर्मदा घाटी क्षेत्र में शामिल हुआ जो कुछ समय बाद अंग्रेजों के नियंत्रण में आया जबकि जबलपुर, मंडला, सिवनी, बैतूल, नरसिंहपुर और होशंगाबाद जिलों का क्षेत्र पहले से अंग्रेजों के नियंत्रण में था। इसी क्षेत्र में 1857 की क्रांति से 15 साल पहले बुंदेला विद्रोह हुआ था। यह विद्रोह बुनियादी रूप से अंग्रेजों द्वारा लागू की गई उस शोषणकारी भूमि-व्यवस्थापन नीति के विरुद्ध था जिसमें लागत की दरें पाँच से पन्द्रह गुना बढ़ा दी गईं थीं। इससे बड़ी संख्या में किसानों को बेदखल होना पड़ा था। इस विद्रोह की शुरुआत सागर के बुंदेला ठाकुरों द्वारा की गई थी। लेकिन जल्द ही हीरापुर के हिरदेशाह, मदनपुर के देहलनसिंह गोंड, धलवार के नटवरसिंह गोंड आदि भी इसमें शामिल हो गये। गोंडों ने अलग से हथियारबंद होकर भी अंग्रेजों से जोरदार टक्कर ली थी लेकिन 1842 तक अंग्रेजों द्वारा बुंदेला विद्रोह को दबा दिया गया था।

बुंदेला विद्रोह से पूर्व पिंडारियों की लूटमार से नर्मदा क्षेत्र बुरी तरह आतंकित था। अंग्रेजों ने लोगों की पिंडारियों से मुक्ति दिलाई थी किन्तु उनकी दमन नीति से उनके विरुद्ध एक वातावरण का निर्माण कर दिया था। 1857 के जुलाई-अगस्त में सतलुज से नर्मदा तक विद्रोह की चिंगारी के भड़कते ही सागर, दमोह, जबलपुर, होशंगाबाद, बैतूल, निमाड़ और पूरे नर्मदा क्षेत्र में भी विद्रोह की आग फैल गई थी। आदिवासी जन-समुदाय भी इससे अलग नहीं रह सका। गढ़ा के अंतिम गौंड राजा शंकर शाह और उसके पुत्र ने अंग्रेजी राज्य को समाप्त करने का बीड़ा उठाया तो तात्या टोपे ने सांडिया घाट से नर्मदा पार करके फतहपुर के गोंड राजा के यहाँ शरण ली थी। तथापि संपूर्ण सागर-नर्मदा क्षेत्र में आदिवासी तथा अन्य समुदायों की विप्लव में भागीदारी को दबा देने के लिए अंग्रेजों ने हंडिया, नेमावर, हरदा, नरसिंहपुर, मंडला तथा अन्य कई स्थानों पर विद्रोही देशभक्तों को सरेआम फाँसी पर लटका दिया। नरसिंहपुर में तो अदालत के सामने देशभक्तों को पेड़ से लटका दिया गया। कई दिनों तक उनके मृत शरीर को उसी रूप में लटका रहने दिया गया जिससे जनता भयभीत बनी रहे। असीरगढ़, खंडवा, बुरहानपुर, सागर, चांवरपाठा में हुए हिंसक विप्लव को भी सख्ती से दबा दिया गया। किन्तु आदिवासी समुदायों ने सन् 1857 के बाद भी अपना संघर्ष जारी रखा।

अंग्रेज आदिवासियों को नागरिक जीवन के लिये समस्या समझते थे। यह जरूर है कि मैदानी भागों में खासकर नर्मदा भाग जो आदिवासियों के अधिकार क्षेत्र में था, को अंग्रेज हथियाना चाहते थे। वे इन मैदानी क्षेत्रों में बाहर से उन लोगों को लाकर बसाना चाहते थे जो उन्नत खेती कर सकते थे या छोटे-छोटे उद्योग स्थापित कर सकते थे। अंग्रेजों ने ऐसा किया भी। उन्होंने मध्यप्रदेश के निमाड़ क्षेत्र में गुजरात से ऐसी उन्नत खेती करने वालों को लाकर बसाया था। इसी प्रकार खंडवा सनावद आदि में जिनिंग फैक्ट्री खोलने वाले उद्यमियों को भी ला बसाया था। इसकी प्रतिक्रिया भी हुई थी। 1819 में भील विद्रोह तथा 1822 में सतपुड़ा क्षेत्र में आदिवासी विद्रोह या विप्लव घटित हुआ था। तथापि आदिवासी क्षेत्र को अंग्रेज तीसरा भारत कहते थे। अर्थात् वह भारत जिसे वे ईसाई मिशनरियों को सौंप देना चाहते थे। इसके बावजूद अट्ठारह सौ सत्तावन के विप्लव में आदिवासी किसी न किसी रूप में शामिल रहे। उधर सतपुड़ा-नर्मदा क्षेत्र में तात्या टोपे के आगमन ने नई

जान फूँक दी थी। उसने पिपलोद, खंडवा, मोकल गाँव आदि में पुलिस थानों को आग लगा दी थी तथा शासकीय भवनों को नष्ट कर दिया था।

तात्या टोपे ने सेंधवा में अंग्रेजों की बिछाई टेलीफोन लाइन को ध्वस्त कर दिया था। खास बात यह कि 1857 के बाद भी भील आदिवासियों का संघर्ष जारी रहा। 1858 से 1860 के बीच भीलों ने विद्रोह किये। जैसा कि कहा गया तात्या का निमाड़ में प्रभाव बढ़ गया था। निमाड़ का खजिया नायक तात्या के साथ था। उसने अंग्रेजों की नाक में दम कर रखा था। उसकी सेना में 4000 भील थे। भीलों का दूसरा नायक भीमा था जिसे ढाबा बावड़ी में अंग्रेजों ने हरा दिया था। लेकिन जैसा कहा गया भीलों का विद्रोह 1860 तक चलता रहा। निमलिया रुतनिया तथा खाजिया नायक (बड़वानी) ने अंग्रेजों के मैदानी इलाकों पर हमला कर लूट मार करना जारी रखा था।

खाजिया नायक 1857 से पूर्व बांबे-आगरा रोड के एक नाके पर नाकेदार या पहरेदार था। उसने भी बगावत की लेकिन 1858 में उसने समर्पण कर दिया। उसे माफ कर दिया गया तथा फिर से उसे उसी पद पर बहाल कर दिया गया। खजिया ने 1860 में विद्रोह में फिर भाग लिया। खाजिया बहुत लोकप्रिय था तथा भील सरदारों पर उसका जबर्दस्त प्रभाव था। उसने ब्रिटिश हुकूमत के खिलाफ लड़ाई छेड़ दी। भील सेना कई महीनों तक लड़ती रही जिसमें मकरानी और अरब दस्ते भी शामिल थे। अंग्रेजों ने नायक को दबाने की कोशिश की लेकिन सफल न हो सके क्योंकि भील छापामारों का खाजिया नायक के प्रति बड़ा आदर था। लेकिन नायक को मकरानियों ने धोखा देकर पकड़वा दिया तथा किसी तरह अंग्रेजों ने उसे मौत के घाट उतार दिया। 1860 के बाद विद्रोह को दबा दिया गया। बड़वानी के राजा के राज्य का अधिग्रहण कर लिया गया था। क्योंकि वह विद्रोहियों पर लगाम कसने में असफल रहा था। 1873 के बाद ही राणा को अपनी रियासत फिर से मिल सकी थी। भील सूदखोरों के खिलाफ थे। अंग्रेज ऐसे सूदखोरों को निमाड़ में बसा रहे थे। अत: भील अंग्रेजों के भी खिलाफ हो गये थे। वे जब तब मैदानी इलाकों में लूटपाट करते रहते थे। भील अपना प्रभुत्व चाहते थे। अन्य कारणों में यह भी अंग्रेजों से लड़ाई का कारण था।

जंगल से बेदखल होने के कारण भीलों ने तात्या टोपे की सेना का साथ दिया था। इसमें लूटमार की छूट की भावना ज्यादा थी। उधर अंग्रेजों ने कपास की पैदावार मेंचेस्टर और लंकाशायर तक भेजने के लिए रेल का निर्माण शुरू किया था। उद्देश्य था बंबई से नर्मदा घाटी होते हुए भारत की राजधानी कलकत्ता को जोड़ना। सतपुड़ा के जंगलों और यहाँ की बढ़िया लकड़ी पर भी उनकी नज़र थी। 1870-1880 में सी.पी. एंड बरार के गवर्नर ने जंगलों का व्यावसायिक उपयोग करने के इरादे पर राय ली और अंतत: आदिवासियों को बेदखल कर दिया।

रेल लाइन बनने से हुकुमरानों की नर्मदा घाटी के जंगल की ओर व्यावसायिक नजर गई। किन्तु लकड़ी काटना मुश्किल था। कै. फोरसिथ के अनुसार 'सतपुड़ा से लकड़ी काटकर लाना व्यावसायिक दृष्टि से महँगा सौदा था। इसलिए रेलवे ने देखा कि नार्वे से स्लीपर के लिए लकड़ी आयात करना तथा आस्ट्रेलिया से लोहे का सामान लाना किफायती है।'

घने जंगल, हिंस्र पशु तथा जंगली लोग जिसके कारण अंग्रेजों की सतपुड़ा के जंगलों में जाने की हिम्मत जवाब दे गई। 1850 के करीब कैप्टन जी.एफ. पर्सन ने पहाड़ों की यात्रा की। उसके बाद कई अधिकारी भी नियुक्त किए गए थे। जिन्होंने 36000 वर्ग मील में फैले जंगलों की रिपोर्ट तैयार की। सैन्ट्रल प्राविंसेस और बरार का 1870 में पहला गजेटियर लिखा गया जिसका स्रोत वनवासी थे। लेकिन सबसे पहला गजेटियर कै. फोरथिस ने कार्यकारी कंजर्वेटर–फारेस्ट के रूप में लिखा था। वह जनवरी माह में जबलपुर कैंट से पचमढ़ी के लिए रवाना हुए थे।

उधर मंडला और बालाघाट में बैगाओं को हल से खेती करने हेतु विवश किया गया। इससे बैगा अंग्रेजों के खिलाफ हो गए। लेकिन बड़ा कारण था जंगलों का व्यावसायिक उपयोग। सभी आदिवासी इसके विरोध में खडे हो गए। अंग्रेजों ने मंडला में 'बैगाचक' बना दिया जहाँ वे 'बेवार' के हकदार थे।

1857 से पहले ये जंगल जनता के थे। रियासत या जागीर के नहीं। ये कामन प्रापर्टी संसाधन (रिसोर्स) थे जिन पर समाज का समान अधिकार था। समाज उनकी रक्षा करता था। अंग्रेजों ने वैज्ञानिक वन प्रबंधन के नाम पर निजी जंगलों को जब्त करके इन्हें भारतीय वन-अधिनियम के अतर्गत संरक्षित घोषित कर दिया। अंग्रेजों द्वारा जंगल जब्ती पर्यावरण के इतिहास में सबसे दुखद घटना थी।

बोरी-वन (होशंगाबाद) को कोटकू मालगुजार भूपतसिंह से हथिया कर हड़प लिया गया। इसी कारण सत्याग्रह भी हुआ। निमाड़ में भी 'नेवाड़' कृषि जारी रही। इससे भी पेड़ कटने लगे। बाद में रेल लाइन बिछाने में भी पेड़ों की खूब कटाई हुई।

नर्मदा घाटी अंग्रेजों की तत्कालीन राजधानी कलकत्ता तथा 'गेटवे टू इंडिया' अर्थात् बंबई के बीच प्राकृतिक रास्ता था। यह ज्यादातर समतल जमीन पर से होकर गुजरता था। सी.पी. और बरार नामक प्रांत की राजधानी नागपुर थी। इस प्रकार अंग्रेज अब पूरी नर्मदा घाटी में काबिज हो गए थे। लेकिन पुराने मराठा सैनिक तथा भील भी अंग्रेजों के लिए सिरदर्द बने हुए थे। इसके कारण पूरी नर्मदा घाटी असुरक्षित तथा हिंस्र बन गई थी। ऐसी हालत में अपनी सत्ता कायम करने में अंग्रेजों के सामने भारी मुसीबतें थीं। आदिवासी अत्यंत गरीब थे तथा आंतरिक क्षेत्रों में निवास करते थे। कैप्टन फोरसिथ के अनुसार, 'आदिवासियों को उनकी मन-मरजी पर छोड़ दिय गया था।'

अंग्रेज अधिकारी आदिवासियों को अपने लिए समस्या ही समझते थे। मैदानी भाग में आदिवासियों (गोंड, कोरकू, भील) की जमीनें हथियाना ही इनका उद्देश्य था। पूर्व में भील विद्रोह तथा सतपुड़ा विप्लव घटित हुआ था। असंतोष अब भी प्रकट होता था। इससे रास्ते असुरक्षित हो गए थे जहाँ लोग भटकते रहते थे और पशु हाँक कर ले जाए जाते थे।

अंग्रेजों ने मैदानी इलाकों में बाहर से लाकर जिन लोगों को बसाया था, इनमें कई मनीलेंडर थे। जिन्होंने आदिवासियों को लूटा और उनकी जमीनों को बंधक बना लिया। इस प्रकार असंतोष और संघर्ष के कई कारण थे।

अंग्रेजों ने धारणा बना ली थी कि आदिवासी खूँखार, खतरनाक और अपराधी होते हैं। उनकी योजना तब यह रही कि आदिवासियों को मैदान में आने से रोका जाए। गौरतलब है कि उस समय आदिवासियों के स्वामित्व वाले कई राज्य थे। हिन्दू जातियों से उनके गहरे संबंध थे। लेकिन अंग्रेज आदिवासियों को 'तीसरा भारत' मानते रहे। यह तीसरा भारत था–क्रिश्चियन भारत। हसनैन के अनुसार अंग्रेजों ने आदिवासियों की ताकत को पहचान लिया था और उन्हें जानबूझकर अलग थलग रखा ताकि वे किसी राष्ट्रीय आंदोलन में भाग न ले सकें।

के-40, एफ, साकेत, नई दिल्ली-110017

अमल धवल गिरि के शिखरों पर

अनुराग शर्मा

अनुराग शर्मा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, हिन्दी विभाग में शोध-छात्र। लेखन में रुचि।

डॉ. शिवप्रसाद सिंह ने महाकवि विद्यापति के काव्य में प्रकृति पर विचार करते हुए लिखा है–"प्रकृति पुरुष की चिर सहचरी है। मानव जीवन को नाना रूपों में प्रभावित करने वाली, उसे चेतना और प्रेरणा प्रदान करने वाली माया शक्ति के रूप में प्रकृति को भारतीय वाङ्मय में अभूतपूर्ण अभ्यर्थना हुई है। प्रकृति और पुरुष के युगबद्ध रूप में दोनों के पारस्परिक सम्बन्धों के संतुलन तथा सहयोग में जीवन की सफलता बताई गई है। मनुष्य अपने व्यक्तिनिष्ठ स्वार्थ के वशीभूत होकर जब-जब प्रकृति को पराजित करने के उद्देश्य से परिचालित हुआ है, तब-तब उसकी शान्ति और समृद्धि का ह्रास हुआ है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ठीक ही लिखा कै कि 'काव्य का चरम लक्ष्य सर्वभूत को आत्मभूत कराके अनुभव कराना है उसके साधन से अहंकार का त्याग आवश्यक है जब तक इस अहंकार से पीछा न छुटेगा तब तक प्रकृति के सब रूप मनुष्य की अनुभूति के भीतर नहीं आ सकते। भारतीय कवियों ने इस सत्य को सदा स्वीकार किया था। परिणामतः ऋग्वैदिक मंत्रों से लेकर वर्तमान युग के गीतिकाव्यों में इस प्रकृति की शान्ति, समृद्धि और शक्ति का मनोरम चित्रण भरा हुआ है।"[1]

बाबा नागार्जुन के काव्य में यह प्रकृति अत्यन्त सजीव रूप में उपस्थित हुई है। प्रकृति नागार्जुन के दृष्टि में सौन्दर्यबोध और कलात्मक रचाव का एक अभिन्न हिस्सा है। प्रकृति के प्रति उसका लगाव सहज अनौपचारिक और अत्यन्त आत्मीय है। नागार्जुन की प्रकृति विषयक कविताओं की मूलभूत विशेषता है उसमें निहित सामाजिकता पर यह सामाजिक निजता को तिरोहित न करके उसकी विशिष्ट छाप लेकर आती है। उनकी प्रकृति विषयक कविताओं की सामाजिकता का मूलकरण है–उसकी यथार्थमूलक प्रगतिशील दृष्टि। उनकी यही दृष्टि प्रकृति के विविध रूपों और अन्तःसंबंधों के बीच सामाजिकता की खोज और उसका कलात्मक विधान करती है।

नागार्जुन की प्रकृति कविताओं में प्रगतिवादी रुझान स्पष्ट रूप लेने लगती है। 'मनुष्य हूँ' (1946) कविता में उन्होंने न केवल कल्पना के रथ पर सवारी करने वाले कवियों के पथ से अपने काव्य-पथ को अलग बताया, बल्कि धरती की नए सिरे से पहचान भी कायम की है। यहाँ तक कि धरती से जुड़े हुए मनुष्य का अर्थ भी नागार्जुन के लिए बदल गया। वह दिव्य और लोकोत्तर महापुरुष के बजाय सुख-दुःख भोगने वाला सामान्य मनुष्य बन गया। 'कवि हूँ पीछे, पहले तो मैं मानव ही हूँ। अतिमानव या लोकोत्तर किसको कहते हैं? नहीं जानता।' उन्होंने 'जनकवि' (1947) नामक अपनी कविता में घोषणा की कि–

"समझ गया हूँ
जीवन में इस धरा-धाम का
क्या महत्व है?
कैसे कहलाता कोई धरती का बेटा
आसमान में सतरंगी बादल पर चढ़कर
जनकवि धान रोपता
समझ गया हूँ
कैसे जनकवि जमींदार के
अमलो को मार भगाता
हरे बाँस की हरी-हरी व लाठी लेकर!"[2]

धरती के प्रति वास्तविक अनुराग नागार्जुन का उन लोगों से भी अलग करता है जो उसका दोहन या नाश करते हैं (धरती-1961) धरती के प्रति नागार्जुन पूँजीपति के खरीद-फरोख्त के रुख के बजाय किसान का भाव रखते हैं। इसलिए धरती उनके लिए व्यापार की जड़ सामग्री के बजाय सूर्य चन्द्र आदि से आभूषित तरु-तृण, लता-सुमन, गुल्म, पशु-पक्षी और मनुष्य से युक्त एक सजीव सत्ता है। उसका स्वभाव और सृजन निर्णयात्मक और कल्याणकारक है। वे धरती की दमक में छाया के बजाय अपनी आभा देखते हैं, पकी फसलों में खून के कतरे की मुस्कराहट देखते हैं। यथा–

"पकी सुनहली फसलों से जो
अबकी यह खलिहान भर गया
मेरी रग-रग के शोणित की बूँदे
इसमें मुसकाती हैं।"[3]

इस प्रकार नागार्जुन की दृष्टि धरती के सृजन और वैभव से जुड़ती है और उसी पर केन्द्रित रहती है। वे निहायत आकाशमय चीजों का सौन्दर्य धरती

के साथ जुड़ाव से मानते हैं। सूर्य की चमक और उनकी आभा दोनों धरती की दमक में शामिल हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि नागार्जुन का दृष्टिकोण और उनका कवि व्यक्तित्व धरती और प्रकृति के बिना अपने को अपूर्ण मानता है। यथा–

"नए गगन में नया सूर्य
जो चमक रहा है
यह विशाल भूखंड आज
जो दमक रहा है।
मेरी भी आभा है इसमें।"

"नागार्जुन मात्र राजनीतिक कवि नहीं हैं। इस प्रकार महादेश की विपुल और विविध रंगी प्रकृति का ऐसा अनुगायन, जैसा नागार्जुन की कविताओं में संभव हुआ है, बहुत कम ही कवियों में संभव हो सका है। बादल उनकी कविता का जैसे एक केन्द्रीय पात्र है। इस बादल की जल नाड़ियाँ बहुत दूर-दूर तक फैली हैं। संस्कृत की क्लासकीय परम्परा में अगर इसका एक छोर है तो दूसरा ठेठ लोक से जुड़ा है उनकी आधुनिकता परम्परा और लोक के निषेध से बनी आधुनिकता नहीं, अपनी परम्परा को आत्मसात करके अर्जित आधुनिकता है। वे एक ठेठ भारतीय आधुनिक हैं जिसकी शक्ल न तो परम्परावादियों से मिलती है और न आधुनिकतावादियों से। बादल का हवाला आते ही नागार्जुन का मन झूमने वाला है मस्ती का ऐसा विकट मूड उनमें शायद ही कहीं दिखता हो। सारी इन्द्रियाँ चौकन्नी हो जाती हैं। इन रचनाओं से जन जागरण जैसा उल्लास है और लोकमंगल की इच्छा से लबालब मन। बादल उनकी यायावरी का सखा है। उन्हीं की तरह घुमक्कड़। नागार्जुन के मेघ में कालिदास की करुणा भी है और निराला का दुर्धर्ष संघर्ष भी। उसमें शृंगार भी है और लोकगीतों की छेड़-छाड़ भी। उसकी जल नाड़ियाँ कहाँ-कहाँ तक फैली है, नागार्जुन से कुछ भी छिपा नहीं है। विराट प्रकृति का अनुगायक ही प्रेम का कवि हो सकता है। नागार्जुन की प्रेम कविताएँ इसका अद्भुत साक्ष्य हैं।"

बाबा नागार्जुन ने सर्वाधिक प्रकृति विषयक कविताएँ ऋतुओं पर लिखी हैं। 'ऋतु संधि' कविता गर्मी और वर्षा की ऋतु-संधि पर है। जेठ तक 'नभ यो ही रहा खल्वाट' पर आषाढ़ के आते ही आकाश और बादल का टूटा हुआ रिश्ता जोड़ देता है और दूसरी ओर धरती को पुलकित भी करता है। बादल, आकाश, धरती के बीच सम्बन्ध स्थापित होते ही कवि की अपनी भूली बिसरी मातृभूमि की याद तरोताजा हो जाती है और पाठक के सामने उसके हृदय की एक वृहत्तर दुनिया खुलकर सामने आती है। प्रकृति के आपसी सम्बन्ध स्थापन के बीच नागार्जुन की स्वनिजता जिन्दा रहती है। यथा–

"चिर प्रतीक्षा कएल
बहुत ताकत बाट
जेठ बीतल
भेल नहीं बर्खा
रहल नभ ओहिना खल्वाट
आइ थिक आषाढ़ वदि षष्ठी
उठल अछि खूब जोर बिहाड़ि
तकरा बाद
सघन कारी घन-घटासँ
भए रहल अछि व्याप्त ई। आकाश
आई वर्षा हएत सजनि,
होइत अछि विश्वास
भए रहल छथि अवनि
पुलकित लैतछथि निश्वास
मुदा अपना देस में
तँ हएल वर्षा भेल...।
सरिपहुँ एक नहि, कए खेप!"[6]

बाबा नागार्जुन के वर्षा वर्णन की विशिष्टता स्थानीय रंगत में है। उनकी कविताओं में मैदानी और पहाड़ी वर्षा अपनी-अपनी भौगोलिक विशेषताओं के साथ है। पर दोनों जगह प्रकृति और मनुष्य के उल्लास में कोई अन्तर नहीं है। इन कविताओं में उनकी निजता सामाजिकता में घुल गई है। वे प्रकृति और मनुष्य के साथ अपने को भी भीगते हुए पाते हैं। जहरी खाल की पहाड़ियों पर उतरने वाला बादल मौसम का पहला वरदान दैहिक स्तर पर सबको बाँटते हैं। पहली वर्षा से वन पर्वतादि ही नहीं बल्कि बाबा नागार्जुन का तन-मन भीगता है। यथा–

"जहरीखाल पर
उतरा है मानसून
भिगो गया है
रातोरात सबको
इनको
उनको
हमको
आपको
मौसम का पहला वरदान
पहुँचा है सभी तक..."[7]

बाबा नागार्जुन की काव्य सम्वेदना में प्रकृति की अनेक अनूठी छटाएँ हैं। उनके प्रकृति चित्रण में तालमखाने है अमराइयाँ हैं। मौलसिरी के फूल हैं, चाँदनी हैं, नीम की टहनी है, कटहल, सिके हुए दो भुट्टे हैं, बर्फ का सबसे अधिक बादल हैं जिस तरह महाकवि निराला की प्रिय ऋतु बसन्त है। उसी तरह नागार्जुन की प्रिय ऋतु बरसात हे। बाबा नागार्जुन की सर्वाधिक कविताएँ बादल पर हैं। इनकी कविता बादल को घिरते देखा है में बादल के साथ-साथ मनोभावों का चित्रण है। जैसे-जैसे बादल घुमड़ते-घुमड़ते रहते हैं उसी प्रकार मानव-मन के भाव भी घुमड़ते रहते हैं–

"अमल धवल गिरि के शिखरों पर
बादल को घिरते देखा है।
छोटे-छोटे मोती जैसे
उसके शीतल तुहिन कणों को
मानसरोवर के उन स्वर्णिम
कमलों पर गिरते देखा है,
बादल को घिरते देखा है।"

"प्रकृति से जितना सहज और सक्रिय लगाव और अनुराग जनकवि नागार्जुन की कविताओं में पाया जाता है, वह दूसरे बहुत कम कवियों में देखने को

मिलेगा। उनके प्रकृति प्रेम की खासियत है कि वह प्रकृति-अनुराग को भी इतना गम्भीर एवं वर्गीय आयाम देने की कला में माहिर हैं, जो कहते नहीं, पढ़ते ही बनता है। इस संग्रह में उनकी एक कविता है 'बरफ पड़ी है'। यथा–

"बरफ पड़ी है
सर्वश्वेत पार्वती प्रकृति
निस्तब्ध खड़ा है
सजे सजाए बँगल होंगे
सौ दो सौ-चाहे दो एक हजार
बस मुट्ठी भर लोगों द्वारा
यह नगण्य शृंगार
देवादारुमय सहजबाहु चिर
तरुण हिमाचल कर सकता है
क्यों कर अंगीकार।"[10]

"इस कविता का पूरा सन्दर्भ प्रकृति है, किन्तु वह प्रकृति-प्रेम क्या, जो मानवीय भावनाओं से शून्य हो। यहाँ भी वे अपने समय, समाज और व्यक्तियों के रिश्तों को नहीं भूल पाते। यहाँ भी उनको उन मेहनतकशों का ध्यान हो आता है। जो बर्फ से ढकी 'निस्तब्ध सर्वश्वेत प्रकृति पार्वती' के सौन्दर्य को नहीं देख पतो। पहले प्रकृति-सौन्दर्य और उसका विराट बिम्ब आता है। मानो इस समय उसका एक यही रूप हो, जिसका चित्रण दो वाक्यों में करके वे ठिठकर-ठहर जाते हैं–'बरफ पड़ी है। सर्वश्वेत पार्वती निस्तब्ध खड़ी है।' इसके पश्चात् ध्यान आता है कि यहाँ मुट्ठी-भर लोग हैं।" जो इस आनन्द का उपभोग करने आए हैं। ये लोग सजे-सजाए बँगलों में नौकर-चाकरों से काम कराने वाले हैं। यहाँ निस्तब्ध प्रकृति के बीच कवि की बेचैनी का दायरा कितना उदात्त एवं विराट रूप ग्रहण कर लेता है।"[11]

नामवर सिंह ने लिखा है, "नागार्जुन के काव्य संसार का एक बहुत बड़ा भाग प्रकृति-चित्रों से सजा है। जिनसे कवि की गहरी ऐन्द्रियता और सूक्ष्म सौन्दर्य-दृष्टि का एहसास होता है। वर्षा और बादलों पर इतनी अधिक कविताएँ निराला के बाद नागार्जुन ने ही लिखी हैं। एक ओर यदि यात्री के रूप में उन्होंने 'अमल धवल गिरि के शिखरों पर बादल को घिरते देखा है" तो दूसरी ओर किसान की तरह धिन धा धमक धमक मेघ बजे' का गीत भी मस्त होकर गाया है। वस्तुतः वर्षागम के अवसर पर ऋतु-संधि का सहज बोध नागार्जुन को एक किसान की तरह होता है और कविता में उनके पूर्वसंचित संस्कार उसी सहजता के साथ फूट पड़ते हैं।"[12]

बाबा नागार्जुन की कुछ कविताओं में प्रकृति-वर्णन मनुष्य की परिस्थिति और पृष्ठभूमि के रूप में है। ऐसी कविताओं में मनुष्य के आपसी सम्बन्धों के प्रकटीकरण का माध्यम प्रकृति है नागार्जुन की स्वजनों–पत्नी, मित्र आदि पर लिखी कुछ कविताएँ जैसे–'सिन्दूर तिलकित भाल' (1943), 'यह तुम थी' (1957), 'एक मित्र को पत्र' (1947) आदि, प्रकृति के सन्दर्भ से मानवीय सम्बन्धों को उद्घाटित करती है।

मानव पीड़ा का सम्बन्ध प्राकृतिक आपदाओं–सूखा, अकाल, बाढ़ और गरीबी से भी है ऐसी परिस्थितियों में प्रकृति मनुष्य के सन्दर्भ में चित्रित और वर्णित है। 'पका है यह कटहल' (मैथिली कविता, 1961), 'अकाल और उसके बाद' दोनों कविताएँ दुर्भिक्ष और उसकी मुक्ति से सम्बद्ध है। पहली कविताएँ में पका कटहल दुर्भिक्ष निवारण के लिए धरती और माँ काली के पवित्र प्रसाद रूप में उद्धारक करता है और अकालग्रस्त लोगों के जीवन मे आहलाद का संचार करता है। दूसरी कविता में अन्न पूरे परिवार को (कानी कुतिया, चूहों कौए समेत) आनंदित करता है। कौए के पंख खुजलाने की खुशी, घर-भर के आँखों की चमक अन्न से ही जुड़ी है। 'जयति जयति सर्वमंगला' में बेकारी बीमारी और दरिद्रता तीनों मुँह बाये कवि के सामने खड़ी है–'तन विषण्णमन चिर अशान्त है/पल-पल छन्न-छन्न भयाक्रान्त है।" इस भय का कारण दरिद्रता है पर वह व्यक्तिगत नहीं सामाजिक है मैं न अकेला मुझे जैसे तो लाख-लाख हैं, कोटि-कोटि हैं।" पर यहाँ उसकी अनुभूति व्यक्तिगत है। एक तरफ दरिद्रता है दूसरी तरफ पूस का जाड़ा पूरे चढ़ाव पर है। ऐसी हालात में 'पूस मास की धूप सुहावन'। यहाँ मुझे प्रसिद्ध कथा सम्राट प्रेमचन्द की 'पूस की रात' की कहानी याद आती है।

बाबा नागार्जुन की 'देखना ओ गंगा मइया' (1954) कविता के केन्द्र में सामान्य मनुष्य की गरीबी का चित्रण है। बाबा नागार्जुन गंगा मइया से आत्मनिवेदनात्मक स्वर में कहते हैं कि पानी में पैसा खोजने वाले बच्चों को निराश मत करना इनकी छोटी-सी आकांक्षा को अवश्य पूरी करना। इस प्रकार बाबा नागार्जुन की प्रकृति कविताएँ व्यापक स्तर पर मानवीय सन्दर्भ प्राप्त कर लेती हैं।

डॉ. शिव कुमार मिश्र ने लिखा है– "छायावादियों की तरह नागार्जुन की प्रकृति हमें चमत्कृत नहीं करती हमसे संवाद करती है। रिश्ता कायम करती है, क्योंकि वह हमारी जानी-पहचानी है। छायावाद की प्रकृति हमें मुग्ध करती है, सम्मोहित करती है, नागार्जुन की प्रकृति में हमारी शिरकत है, भागीदारी है।"[13]

बाबा नागार्जुन की एक छोटी सी प्रकृति विषयक कविता है–'मेघ बजे'। इस कविता में मेध अपने लिए ही नहीं वरन प्यासी धरती के लिए भी बरसते हैं। इस कविता में लोक संगीत की सोंधी महक हमें देखने को मिलती है। यथा–

"धिन धिन धा धमक-धमक
मेघ बजे
दामिनी यह गई दमक
मेघ बजे
दादुर का कण्ठ खुला
मेघ बजे
पंक बना हरिचंदन
मेघ बजे

हल का है अभिनंदन
मेघ बजे
धिन धिन धा..."[14]

बाबा नागार्जुन की कविताओं में सम्पूर्ण भारत की प्रकृति का चित्रण देखने को मिलता है। मैनेजर पाण्डेय ने लिखा है– "नागार्जुन की कविता की दुनिया वैसी ही व्यापकता और विविधता से भरी हुई है जैसी व्यापकता और विविधता भारत देश में है और भारतीय समाज में उनकी कविता में भारतवर्ष का विशाल भूगोल है जो उत्तर के हिमालय से लेकर दक्षिण के केरल तक फैला हुआ है और पूरब के मिजोरम से पश्चिम के गुजरात तक। उन्होंने हिमालय के उदात्त सौन्दर्य पर अनेक कविताएँ लिखी हैं। केरल के महाकवि वल्लतोल पर भी उनकी एक कविता है। देश के पूरब में स्थित मिजोरम पर उनकी एक कविता संस्कृत में है तो गुजरात से जुड़ी उनकी अनेक कविताएँ हिन्दी में हैं।"[15]

बाबा नागार्जुन की प्रकृति विषयक कविताओं की एक खासियत यह भी है जिन-जिन प्रकृति विषयों, वस्तुओं, रूपों पर उन्होंने अपनी लेखनी चलायी है दूसरा कोई प्रकृति-प्रेमी कवि ने न तो लेखनी चलायी है और न ही चलाने के बारे में सोचता है। नागार्जुन ने जैसे मादा सुअर, नेवले पर और जय हे कीचड़ आदि विषय पर कविताएँ लिखी हैं वैसे ही उनकी एक कविता जुगनू पर भी है जिसका शीर्षक है 'जान भर रहे हैं जंगल में'–

"गीली भादों
रैन अमावस...
कैसे ये नीलम उजास के
अच्छत छींट रहे जंगल में
कितना अद्भुत योगदान है
इनका भी वर्षा मंगल में
लगता है ये ही जीतेंगे।
शक्ति प्रदर्शन के दंगल में
लाख-लाख हैं सौ हजार हैं
कौन गिनेगा बेशुमार हैं
मिल-जुलकर दिप-दिप करते हैं...
कौन कहेगा जल भरते हैं
जान भर रहे जंगल में।"[16]

बाबा नागार्जुन के विषय में नामवर सिंह का वक्तव्य है–"नागार्जुन की गिनती न तो प्रगतिशील कवियों के सन्दर्भ में होती है, न नई कविता के प्रसंग में फिर भी कविता में रूप सम्बन्धी जितने प्रयोग अकेले नागार्जुन ने किए हैं उतने शायद ही किसी ने किए हों। कविता की उठान तो कोई नागार्जुन से सीखे और नाटकीयता में तो वे लाजवाब ही हैं। जैसी सिद्धि छंदों में वैसा ही अधिकार बेछंद या मुक्त छंद की कविता पर। बात करने के हजार ढंग हैं। भाषा में भी बोली के ठेठ शब्दों से लेकर संस्कृत की संस्कारी पदावली तक इतने स्तर हैं कि कोई भी अभिभूत हो सकता है। तुलसीदास और निराला के बाद कविता में हिन्दी भाषा की विविधता और समृद्धि का ऐसा सर्जनात्मक संयोग नागार्जुन में ही दिखाई पड़ता है वैसे नागार्जुन में ऊबड़-खाबड़पन भी कम नहीं है और इकसे कारण कवि-कोविदों के बीच उन्हें प्रतिष्ठा प्राप्त होने में भी विलम्ब हुआ, किन्तु भाव स्थिर होने और सुर सध जाने पर ऐसी ढली ढलाई कविता निकली है कि बड़े-से-बड़े कवि को भी ईर्ष्या हो। कहना न होगा कि नागार्जुन में ऐसी कलापूर्ण कविताएँ काफी हैं।"[17]

सन्दर्भ ग्रन्थ–

1. डॉ. शिवप्रसाद सिंह–विद्यापति, लोकभारती प्रकाशन, पहली मंजिल, दरबारी बिल्डिंग, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद-1, तेइसवाँ संस्करण-2015, पृष्ठ 165
2. नागार्जुन : चयनित कविताएँ–सम्पादक एवं चयन–मैनेजर पाण्डेय, नेशनल बुक ट्रस्ट इण्डिया, पहली आवृत्ति, 2011, पृष्ठ 9
3. नागार्जुन प्रतिनिधि कविताएँ–सम्पादक–नामवर सिंह, राजकमल पेपरबैक्स, नयी दिल्ली, ग्यारहवीं आवृत्ति, 2010, पृष्ठ 73
4. वही, पृष्ठ 73
5. नागार्जुन रचना संचयन–सम्पादन–राजेश जोशी, साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली, पुनर्मुद्रण 2011 एवं 2013, पृष्ठ 14-15 (भूमिका से)
6. नागार्जुन : चयनित कविताएँ–सम्पादक एवं चयन–मैनेजर पाण्डेय, नेशनल बुक ट्रस्ट इण्डिया, पहली आवृत्ति, 2011, पृ. 208
7. नागार्जुन प्रतिनिधि कविताएँ–सम्पादक–नामवर सिंह, राजकमल पेपरबैक्स, नयी दिल्ली, ग्यारहवीं आवृत्ति, 2010, पृ. 90
8. अलाव–द्विमासिक पत्रिका (नागार्जुन जन्मशती विशेषांक), सम्पादक–रामकुमार कृषक, जनवरी-फरवरी, 2011, पृ. 44
10. नागार्जुन प्रतिनिधि कविताएँ–सम्पादक–नामवर सिंह, राजकमल पेपरबैक्स, नयी दिल्ली, ग्यारहवीं आवृत्ति, 2011, पृष्ठ 44
11. अलाव (द्विमासिक पत्रिका), नागार्जुन जन्मशती विशेषांक, सम्पादक–रामकुमार कृषक, पृ. 44-45
12. नागार्जुन प्रतिनिधि कविताएँ–सम्पादक–नामवर सिंह, राजकमल पेपरबैक्स, नयी दिल्ली, ग्यारहवीं आवृत्ति, 2011, पृष्ठ 7 (भूमिका से)
13. वचन (त्रयमासिक पत्रिका), सम्पादक–प्रकाश त्रिपाठी, वर्ष अक्टूबर 2013, अंक 13-14, पृ. 81
14. नागार्जुन : चयनित कविताएँ–सम्पादक एवं चयन–मैनेजर पाण्डेय, नेशनल बुक ट्रस्ट इण्डिया, पहली आवृत्ति 2011, पृ. 134
15. वही, पृ. 09 (भूमिका से)
16. वही, पृ. 142
17. नागार्जुन प्रतिनिधि कविताएँ–सम्पादक–नामवर सिंह, राजकमल पेपरबैक्स, नयी दिल्ली, ग्यारहवीं आवृत्ति, 2010, पृष्ठ 9 (भूमिका से)।

कमरा संख्या-144, बिरला 'ब' छात्रावास,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी-221005 (उत्तर प्रदेश)

देवों का गढ़–देवगढ़

सुरेन्द्र अग्निहोत्री

लेखक की रचनाएं विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित। जाने-माने साहित्यकार एवं लेखन में सक्रिय।

देवों की मूर्तियों को गढ़ने वाला देवगढ़ प्रचुर प्राचीन कला संपदा के कारण दुनिया भर में प्रसिद्ध है। कवि कालिदास ने मेघदूत के 43वें 44वें श्लोक में मेघों से देवगिरि पर शीश नवाने के बाद वेसनगर जाने का वर्णन किया है।

प्राचीन भारतीय संस्कृति, कला और दर्शन का गौरवशाली प्रतीक देवगढ़ बेतवा नदी के किनारे ललितपुर स्टेशन से 33 कि.मी. की दूरी पर स्थित है। सड़क मार्ग से आने-जाने के लिए पर्याप्त साधन उपलब्ध हैं। विंध्यशृंखला की गोद में बसा देवगढ़ भारत का एक ऐसा पुरास्थल है जहाँ प्रागैतिहासिक काल से वैदिक-पौराणिक और जैन दोनों ही परम्पराओं का साथ-साथ विकास हुआ है। देव मन्दिरों और देवमूर्तियों के गढ़ने के कारण इस स्थल का नाम देवगढ़ दिया गया होगा। इस क्षेत्र का प्राचीन नाम 'लुअच्छगिरि' था। गुर्जर-प्रतिहार शासक भोजदेव के शासन काल के लेख में 'लुअच्छगिरि' ही नाम आया है। 12वीं शताब्दी के मध्य इस क्षेत्र का नाम कीर्तिगिरि रखा गया।

दशावतार मन्दिर-भगवान विष्णु को समर्पित गुप्तकाल का दशावतार मन्दिर नागर शैली का पंचायतन मन्दिर है। इस मन्दिर की कला के संबंध में पुरातत्वविद् स्मिथ कहते हैं कि देवगढ़ में गुप्त काल का सबसे अधिक महत्वपूर्ण और आकर्षक स्थापत्य है। इस मन्दिर की दीवारों पर तीन प्रस्तर-फलक लगे हैं। उनमें भारतीय मूर्तिकला के अनुपम दृश्य हैं। एक फलक पर गजेन्द्र मोक्ष का दृश्य उत्कीर्ण है।

दक्षिण की ओर के फलक पर शेषशायी विष्णु हैं। विष्णु शेषनागों के फनों की छाया में लेटे हुए हैं, लक्ष्मी जी उनका पैर दबा रही हैं। आकाश में इन्द्र, शिव आदि देव अपने वाहनों से इस लीला को देख रहे हैं। नीचे पाँच पुरुष व एक स्त्री की आकृति बनी हुई है। स्त्री की आकृति अपने बाल खोले हुए है। इससे यह प्रतिबिम्बित होता है कि यह दृश्य पांच पांडव व द्रोपदी का है। द्रोपदी अपने केश खोल कर बता रही है कि जब तक वह दुर्योधन के खून से अपने बाल नहीं धो लेंगी, तब तक केश नहीं बांधेंगी। तीसरे फलक पर नर-नारायण का दृश्य अंकित है। शेर व हिरन को साथ-साथ तपोभूमि में विचरण करते दिखाया है। मंदिर के दरवाजे पर गंगा और यमुना देवियों के रूप की नक्काशी की गयी है। वैष्णव पौराणिक कथाओं की पट्टी पर भी नक्काशी हुई है। यह नक्काशी विश्व में अपने प्रकार की इकलौती वास्तुकला है।

5वीं-6ठी शताब्दी में शिखर वास्तुकला यहां पहली बार शुरू की गई थी। शिखर

१०-वी.शदी.सरस्वती

का निचला हिस्सा मंदिर का सबसे महत्वपूर्ण भाग था।

वर्तमान में मंदिर का शिखर भाग खण्डित है। दशावतार मन्दिर के नामानुसार विष्णु के दस अवतारों का अंकन भले न मिलता हो लेकिन विष्णु मन्दिर हैं।

वराह मंदिर–देवगढ़ दुर्ग से दक्षिण-पश्चिमी कोने पर तीन किलोमीटर पहाड़ पर पंचायतन शैली का एक दक्षिणाभिमुख वराह मंदिर के भग्नावशेष मौजूद हैं। इसके गर्भगृह के ऊपर पीठिका पर लेटे अंजली मुद्रा में नाग व नागिन बनी हुई हैं। ऊपरी भाग में भगवान नृवराह की एक विशाल प्रतिमा थी, जो पुरातत्व विभाग की घोर उपेक्षा व उदासीनता के कारण तस्करों द्वारा चुरा ली गई और अब बरामद होने के बावजूद भी सरकारी मालखाने में रखी है। सातवीं शती ई. का वराह मंदिर एक ऊंची जगती पर स्थित है। दशावतार मन्दिर की भांति यहां भी नर-नारायण, शेषाशायी विष्णु, गजेन्द्र मोक्ष की मूर्तियां उत्कीर्ण हैं।

जैन मन्दिर और मूर्तिकला–देवगढ़ में इस समय 31 जैन मन्दिर हैं। जिनकी स्थापत्य कला अलग-अलग शैली की है। आठवीं शती ई. में बने मंदिरों में सबसे विशाल मंदिर नं. 12 है जो शांतिनाथ मंदिर के नाम से प्रसिद्ध है। जिसके चारों ओर अनेक कला-कृतियां और चित्र अंकित हैं। इसमें शांतिनाथ भगवान की 12 फुट उत्तुंग जिन-प्रतिमा विराजमान है, जो दर्शकों को अपनी ओर आकृष्ट करती है और चारों कोनों पर अम्बिका देवी की चार मूर्तियां हैं, जो मूर्तिकला के गुणों से समन्वित हैं। इस मंदिर की बाहरी दीवार पर 24 यक्ष-यक्षणियों की सुन्दर कला-कृतियां बनी हुई हैं। जिनकी आकृतियों से भव्यता टपकती है, साथ ही 18 लिपियों वाला लेख भी बरामदे में उत्कीर्णित है। इन सब कारणों से यह मंदिर अपना सानी नहीं रखता। मंदिर नं. 4 के मन्दिर में तीर्थंकर की माता सोती हुई स्वप्नावस्था में विचारमग्न मुद्रा में दिखलाई गई हैं। मंदिर नं. 5 का मंदिर सहसकूट चैत्यालय जिसकी कलापूर्ण मूर्तियां अपूर्व दृश्य दिखलाती हैं। इस मंदिर के चारों ओर 1008 प्रतिमाएं खुदी हुई हैं। बाहर सं. 1120 का लेख भी उत्कीर्णित है, जो सम्भवत: इस मंदिर के निर्माण काल का ही द्योतक है। मंदिर नं. 11 के मंदिर में दो शिलाओं पर 24 तीर्थंकरों की बारह-बारह तीर्थंकर-प्रतिमायें अंकित हैं ये सभी मूर्तियां प्रशान्त मुद्रा को लिये हुए हैं।

चक्रेश्वरी-११-वी.श.

१०-वी.शदी.माता-पिता

देवगढ़ के जैन मंदिरों का निर्माण उत्तर भारत के विकसित आर्य नागर शैली से अत्यन्त भिन्न है। नागर शैली का विकास गुप्तकाल में हुआ है। देवगढ़ में तो उक्त शैली का विकास पाया ही जाता है, किन्तु खजुराहो आदि के जैन मंदिरों में भी इसी कला का विकास देखा जाता है। यह कला पूर्ण भारतीय है और प्राग्मुस्लिमकालीन है। इतना ही नहीं, किन्तु समस्त मध्य प्रांत की कला इसी नागर शैली से ओतप्रोत है। इस कला का गुप्त, गुर्जर, प्रतिहार और चंदेलवंशी राजाओं के राज्यकाल में पल्लवित और विकसित होने का प्रश्रय किला है।

देवगढ़ की मूर्तियों में दो प्रकार की कला देखी जाती है। प्रथम आकार की कला में कलाकृतियां अपने परिकारों से अंकित देखी जाती हैं। जैसे चमरधारी यक्ष-यक्षिणियां सम्पूर्ण प्रस्तराकार कृति में नीचे तीर्थंकर का विस्तृत आसन और दोनों पार्श्वों में यक्षादि अभिषेक कलश लिये हुए दिखलाए गए हैं, किन्तु दूसरी प्रकार की कला मुख्य मूर्ति पर ही अंकित है, उसमें अन्य अलंकरण और कलाकृतियां गौण हो गयी हैं। इस

युग में भारतीय कला का विकास जैनों, वैष्णवों और शैवों में निर्विरोध हुआ है। देवगढ़ संस्कृति एवं जैन धर्म का संधिस्थल रहा है। तीर्थंकर महावीर, ऋषभनाथ, अजितनाथ, सम्भवनाथ, शान्तिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, सुपार्श्वनाथ, पद्मप्रभ, चन्द्रप्रभ एक त्रितीर्थी जिनमूर्ति में कुंथुनाथ और शीतलनाथ की मूर्तियां, सरस्वती, लक्ष्मी, अंबिका, चक्रेश्वरी की मूर्तियां, पंचपरमेष्ठियों की मूर्तियां, कलापूर्ण मानस्तम्भ, नगग्रह, गंगा-यमुना, अनेक शिलालेख और पौराणिक दृश्य अंकित हैं। साथ ही वराह का मंदिर, गुफा में शिवलिंग, सूर्य भगवान की मुद्रा, गणेश मूर्ति, अनंतशायी विष्णु की मूर्ति, नर-नारायण की मूर्ति एवं रामायण, महाभारत के पौराणिक दृश्य और गजेन्द्रमोक्ष आदि कलात्मक सामग्री देवगढ़ की महत्ता की द्योतक है।

नाहर घाटी–देवगढ़ में विंध्य पर्वत शृंखला जो वेतवा नदी के किनारे की ओर जाती है उसे काटकर नाहर घाटी का निर्माण हुआ है। छठी-सातवीं शती ई. में घाटी की दीवार पर 10X2 फीट आकार वाले फलक पर शिव (वीरभद्र), चतुर्मुखी ब्राह्मी (अक्षमाला-धारिणी), सिंहवाना शिवा (गणेश को गोद में लिये), गरूड़ासीन वैष्णवी, कौमारी, गजवाहना इन्द्राणी तथा चामुण्डा की आकृतियां उकेरी गयी हैं। अन्य फलक पर विष्णु, सूर्य, महिषासुरमर्दिनी तथा शिव का अंकन महत्वपूर्ण है। सप्तमातृका फलक पर ब्राह्मी लिपि में सात पंक्तियों का एक लेख उकेरा गया है जिसमें केशव के पुत्र स्वामी भट्ट द्वारा अवनीश्वर मन्दिर के निर्माण का उल्लेख है।

राजघाटी–दक्षिण-पश्चिम में स्थित राजघाटी प्रागैतिहासिक काल के भक्ति चित्रों तथा प्राचीन अभिलेख के कारण महत्व रखती है। पर्वत को काटकर बनाई गयी गुफा में दो अभिलेख खुदे हैं। गुफा के भीतर दीवार पर भित्ति चित्र के रूप में सिन्दूरी रंग के हाथी पर सवार महावत हाथ में अंकुश लिये बैठा है। इसी गुफा के पार्श्व में सम्वत् 1154 (1097 ई.) में चन्देल शासक के मंत्री वत्सराज ने लिखवाया था। अभिलेख के नीचे एकमुखलिंग सहित तीन शिवलिंग, चतुर्भुज विष्णु, द्विभुज सूर्य, लक्ष्मी, गंगा-यमुना तथा अन्य मूर्ति शिल्प देख सकते हैं। समीप ही सिद्ध की गुफा है जहां कभी साधु साधना करते रहे हैं। गुफा की दीवार पर शैलचित्र बने हैं। महिषमर्दिनी की एक भावपूर्ण मूर्ति उत्कीर्ण है। विभिन्न जैन मंदिर प्रमुख आकर्षण का केंद्र हैं। इन मंदिरों की वास्तुकला शिल्प कौशल के एक उच्च स्तर को प्रदर्शित करती है।

ए-305, ओ.सी.आर. बिल्डिंग, विधानसभा मार्ग,
लखनऊ (उत्तर प्रदेश)

खोई डायरी के पन्ने और अमृता शेरगिल

सुदर्शन वशिष्ठ

लेखक हिमाचल कला संस्कृति भाषा अकादमी के पूर्व उपनिदेशक रहे हैं। संप्रति सीनियर फैलो (संस्कृति मंत्रालय, भारत सरकार) हैं। कई महत्वपूर्ण संस्थानों के सदस्य हैं और रहे हैं।

अमृता शेरगिल... फरवरी की बर्फ सी, जिसमें ठण्ड के साथ एक अजीब सी उष्मा विद्यमान रहती है। बाहर से मनोहारी, भीतर से धीरे-धीरे पिघलती हुई। अमृता की छवि एक कलात्मक रचना के रूप में उभरती है। उसकी काव्यमय भाषा, सिद्धहस्त तूलिका एक अद्भुत कोमल व्यक्तित्व को जन्म देती प्रतीत होती है, जो बाहर से सुंदर सुडौल है, भीतर से खण्डित, उलझनभरा और मुरझाया हुआ है।

अमृता की डायरी के अंशों में अद्भुत भाषा के साथ आकर्षक पोर्ट्रेट प्रकट हुए हैं। 15 मार्च 1924 को शिमला में उन्होंने इर्विन अंकल के बारे में लिखा है–

"इर्विन अंकल घर आए। उन्हें देखा तो ऐसा लगा जैसे किसी गुफा से कोई ज्ञानी तपस्वी सीधा हमारे घर चला आ रहा हो। यह तपस्वी तेजस्वी भी था। मॉम के दूर के रिश्ते का यह चचेरा भाई जिसके शब्दों में एक अलग ही नाद था। उन्होंने आते ही मॉम को बाँह में भर लिया। किसी झरने की तरह हँसने लगे।... उन्होंने हवा में हाथ फटकारे। लगा जैसे क्षण भर में ही उड़ने लगेंगे। उठे हुए हाथ पक्षी के पंखों की तरह लग रहे थे।"

इर्विन अंकल भी पहले चित्र बनाते थे। बाद में उन्होंने लगभग बीस भाषाएँ सीखीं और तिब्बत में लामाओं के पास पड़े रहे। इर्विन अंकल ने अमृता के मॉम और पापा से कहा–

"मैडम मेरी अटोनेट और सरदार उमरावसिंह! लड़की के चित्रों में यहाँ की संस्कृति की गन्ध है। यह दैवी पौधा आपके यहाँ उगा है। इसका संवर्धन करो। उसकी कला को विकसित होने दो। मैं उसके बारे में आश्वस्त हूँ!" इस पर अमृता ने मन ही मन अंकल का धन्यवाद किया और लिखा–

"धन्यवाद अंकल! आपके विश्वास को मैं टूटने नहीं दूंगी। मेरे अस्तित्व पर आशीर्वाद का हाथ हमेशा रहने दें। मेरे भीतर आपके द्वारा रोपा हुआ आत्मविश्वास का बीज अंकुरित होता रहेगा। मुझ पर विश्वास रखिए। मेरी आँखें अनायास भर आईं। अभी भी लिखते समय लग रहा है जैसे अक्षर पिघल रहे हों।"

भारत में आधुनिक कला की कर्णधार प्रसिद्ध चित्रकार अमृता शेरगिल शिमला में दो बार रहीं। उनके प्रसिद्ध चित्र यहीं बने। वे समरहिल में रेलवे स्टेशन के ऊपर 'होम' नामक भवन में रहती थीं।

इस घर में बाद में एक कलाकार पुष्करनाथ भी रहे। लगभग 1986 में एक बार भाषा संस्कृति विभाग हिमाचल प्रदेश की ओर से उनके चित्रों की प्रदर्शनी स्थानीय वाई.डब्ल्यू.सी.ए. में लगाई गई तो उनके इस घर में जाना हुआ। दोमंजिला लकड़ी से निर्मित यह कॉटेज सड़क के पास है। 'होम' का अर्थ टापू है। इस भवन को एक स्वीडिश इंजीनियर ने अपने रहने के लिए बनाया था। भवन के साथ स्वीमिंग पूल और सुंदर बागीचा हुआ करता था। घर के प्रांगण में एक ओर

छोटा-सा पूल था जिसमें बतखें तैर रही थीं। हो सकता है यह वहीं स्वीमिंग पूल हो। कहा जाता है कि अमृता शेरगिल की माँ के इसमें डूबने के बाद इसे बंद करवा दिया गया। अब यह भवन हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय के पास है।

यह सन् 1921 की बात है जब अमृता शेरगिल अपने माता-पिता के पास रहने आईं। अमृता के पिता उमराव सिंह शेरगिल एक सम्पन्न परिवार से सम्बन्ध रखते थे। इनके दादा ने अंग्रेज-सिक्ख लड़ाई में सिक्खों का साथ दिया, अतः पैतृक गाँव मजीठा में परिवार की सम्पत्ति जब्त कर ली गई। सन् 1857 के विद्रोह में अंग्रेजों का साथ देने पर इनके पुत्र सूरत सिंह को जमीन वापिस दे दी गई। इनके छोटे पुत्र सुंदरसिंह मजीठिया ने चीनी की तीन मिलें लगाकर अपार सम्पत्ति अर्जित की किन्तु बड़े पुत्र उमराव सिंह शेरगिल अलग तरह के व्यक्ति थे। ये यूरोपीय तथा भारतीय पाँच भाषाओं के जानकार थे। इन्हें हंगेरियन मेरी एटोनिटी से प्रेम हो गया जो सन् 1911 में महाराजा रणजीत सिंह की पौत्री के साथ पंजाब आई हुई थी। उमराव सिंह शेरगिल मेरी एटोनिटी से विवाह कर लिया और हंगरी चले गए।

अमृता का जन्म भी 3 जनवरी 1913 में बुडापेस्ट हंगरी में ही हुआ। इनकी एक दूसरी बहन का नाम इन्दिरा था जो इनसे दो साल छोटी थी। सन् 1921 में प्रथम विश्व युद्ध के दौरान यह परिवार 1921 में शिमला के इस घर में आ गया। अमृता शेरगिल उस समय आठ वर्ष की रही होगी। उमराव सिंह शेरगिल ने अपने रहने के लिए समरहिल स्थित यह घर स्वीडिश इंजीनियर से खरीद लिया था। लकड़ी से निर्मित यह घर एक बहुत ही शांत वातावरण में अवस्थित था। अमृता पंजाबी पिता और हंगेरियन माँ की संतान थी जिससे उसका आसपास के बच्चों से कोई सम्पर्क नहीं बन पाया। अतः वह घर में ही अकेली रहती थी। माँ उसे संगीत सिखाना चाहती थीं, अतः घर में ही पश्चिमी क्लासिक संगीत सिखाने की व्यवस्था की गई।

अमृता शेरगिल आरम्भ से ही स्वतन्त्र विचारों की स्वामिनी थी। अतः वह संगीत के स्थान पर ड्राइंग की ओर आकर्षित हुई। ड्राइंग के बाद वह वाटर कलर में काम करने लगी। उसे घर में पढ़ाने आने वाला अध्यापक भी चित्रकार था। अमृता को अपने आयाम खोजने में समय लगा और अंतः उन्होंने एक राह खोजी। और वह राह थी चित्रकार बनने की। अमृता की पेंटिंग्ज में उदास और तनावपूर्ण चेहरों वाली ग्रामीण युवतियों के अक्स आने लगे।

अमृता को बारह वर्ष की आयु में कॉन्वेंट स्कूल में डाल दिया गया किंतु चर्च न जाने की स्थिति में उसे स्कूल से निकाल दिया गया। अब वह घर में संगीत, कविता तथा चित्रकला में व्यस्त रहने लगी। सन् 1924 के लगभग अमृता को फ्लोरेंस में एक स्कूल में दाखिला मिल गया। सन् 1929 से 1934 के बीच पेरिस प्रवास पर जब सोलह साल की वय में कला विद्यालय में प्रवेश लिया तो प्रोफेसर पेर वेलान इनके चित्र देखकर आयु के हिसाब से प्रौढ़ अनुभव देख प्रभावित हुए। पेरिस में आर्ट में प्रशिक्षण लेने से अमृता को रेखा और रंग में महारत हासिल हो गई। पेर वेलान की कक्षा में इन्होंने न्यूड मॉडेल पर काम सीखा। उसने मानवीय संवेदनाओं, भावनाओं का सहारा ले कर स्केच बनाने आरम्भ किए। उसे एक सिद्धहस्ता कलाकार बनने की चाह थी।

बचपन से अमृता इंट्रोवर्ट थी। पेरिस में परम्परा से जुड़ा कवच टूटा और नई मुक्त अमृता का जन्म हुआ। प्राध्यापक सिमोन से सीख कर अमृता ने उस दृष्टि से साक्षात्कार किया जिसके बनिस लसेग आँखें होते हुए भी अन्धे होते हैं।

1934 में अमृता पुनः भारत लौटी और 1938 तक शिमला में रही। कहा जाता है कि एक रात दोनों बहनों में झगड़ा हो गया। दोनों बहनें घर में अकेली थीं तो आपस में हुए झगड़े पर बहन इन्दिरा ने आधी रात को अमृता को घर से निकाल दिया। वह रात को कुछ मील चल कर अपनी मित्र हेलन के घर पहुँची। बचपन में, माता-पिता के बीच मनमुटाव और माँ का स्विमिंग पूल में डूब कर मरना, बहन से तकरार आदि कुछ घटनाएँ थीं जिनका अमृता पर प्रभाव पड़ा होगा जो चित्रों में भी देखा जा सकता है।

शिमला के एकांत घर व आसपास के आकर्षक और शांत वातावरण ने अमृता के मन पर विशेष प्रभाव डाला। यहाँ की जलवायु, परिवेश और आकर्षक भूदृश्य ने कलाकार पर अपना प्रभाव बनाया। वैसे भी शिमला उन दिनों समर केपिटल था, जहाँ देश और विदेशों से लोग आया करते थे।

कहा जाता है, शिमला में विदेशी माहौल होने के बावजूद अमृता बाहर जाने पर हमेशा साड़ी पहनती थी। इनके चित्रों में भी साड़ी प्रायः देखने को मिलती है। अमृता की तूलिका से निकले चरित्र समाज के निम्न वर्ग से थे। यह चरित्र अपनी भावनाओं को छिपाने वाले, संवेदना से भरे हुए और तनावग्रस्त रहे हैं जो इनके चेहरों पर स्पष्ट झलकता है। शिमला के आवास के इन चार वर्षों में अमृता ने महत्वपूर्ण चित्रों का निर्माण किया। इनमें प्रमुख 'चाइल्ड वाइफ', 'हिल मेन', 'हिल वोमेन', 'ब्रह्मचारी', 'स्टोरी टेलर', 'अछूत' तथा 'फल बेचने वाली' आदि हैं। इसके अलावा उनका 'सेल्फ पोर्ट्रेट', 'न्यूड', 'ए वोमेन एट बाथ', 'ट्राइबल मेन', 'टू एलिफेंट्स' आदि चित्र प्रसिद्ध हैं। अमृता एक व्यावसायिक और मौलिक चित्रकार बनना चाहती थी, जो दूसरों से भिन्न हो और यह उसने करके दिखा दिया। वह मौलिक, वास्तविक और स्थायी अनुभवों और संवेदनाओं की चित्रकार बनना चाहती थी और यह उसके चित्रों से स्पष्ट झलकता है।

अमृता ने लिखा है जब मॉम का प्रेमी मार्सेल्ले अपने गाँव पत्नी के पास सिसिली लौट गया तो मॉम बहुत रोयी। मॉम उसके लिए पापा से झगड़ा कर इण्डिया छोड़ एथेन्स आईं किन्तु मॉम के मिन्नत करने पर भी मार्सेल्ले चला या। अमृता ने लिखा है–

"जहाज से लौटते हुए मॉम मौन ही थी। उस स्थिति में मैंने उनके कई चित्र बनाए पर वह मुझे उजड़ी हवेली जैसी लग रही थी। इन्दिरा को सीने से लगा कर रोती थी।"

यह इटेलियन शिक्षक मार्सेल्ले, अमृता को समरहिल शिमला के घर में चित्रकला सिखाता था।

प्रथम दिसम्बर 1923 को अमृता ने लिखा है–

"पापा कॉन्फरेंस के लिए बनारस गए हैं। मैं और इन्दिरा साथ-साथ माल रोड पर वर्षा की फुहारों को देख रही थीं। स्वेटर तथा ओवरकोट के बावजूद ठण्ड हड्डियों को ठिठुरा रही थी। अंधेरा घिर आया तो बोली–मिस्सी बा, चलो, वापिस चलो।... हम दोनों संसिल गईं। वे मार्सिल्ले के साथ नृत्य में तल्लीन थीं। उन्होंने सिर उसके कन्धे पर टिकाया था। उसके हाथ मॉम की कमर में लिपटे थे।"

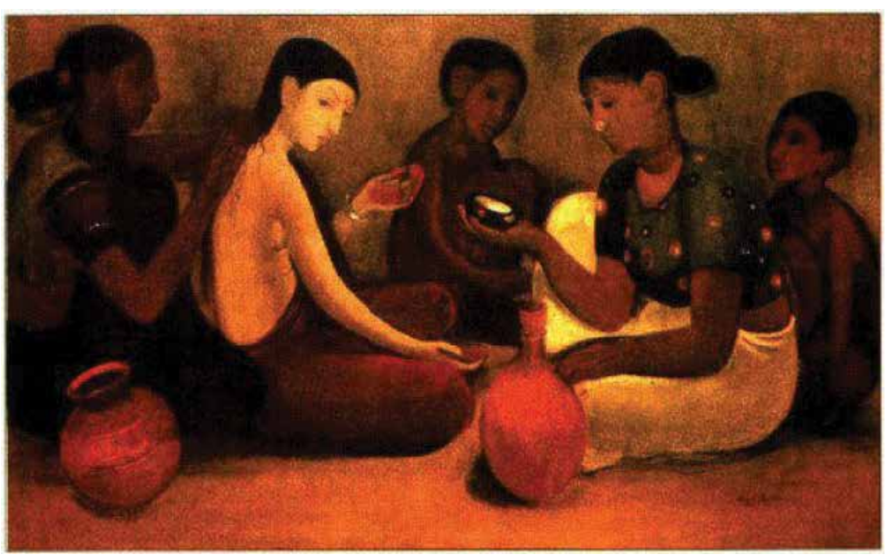

पति के साथ लड़ाई झगड़ा चला रहता था। पत्नी से बचाव के लि सरदार जी टेरेस पर आ जाते और दूरबीन से खुद को ग्रहतारों में उलझा देते।

मॉक का मार्सेल्ले के प्रति प्रेम और पापा के प्रति उपेक्षा ने नन्हीं अमृता के मन पर गहरा प्रभाव छोड़ा। पिता का भारतीय कला के प्रति प्रेम अमृता में भी आया। वे उसे सच्चिदानंद... सत्, चित् और आनन्द से उत्पन्न कला का मर्म समझाते। सरदार जी का ज्ञानविस्तार बहुत था। वे संन्यासी की तरह रहते थे। उन्हें संस्कृत, पर्शियन, उर्दू भाषाओं का ज्ञान था। पापा तथा मॉम की वृत्ति-प्रवृत्ति में बहुत विरोधाभास था। वे ग्रह तारे नक्षत्रों में खोए रहते तो मॉम भौतिक संसार में आकण्ठ डूबी रहती। पिता के बारे में अमृता ने लिखा है–"संन्यासी वृत्ति के तत्वचिंतक, तुलनात्मक धर्माध्ययन करने वाले अभ्यासक तथा सामाजिक स्वतन्त्रता के लिए लड़ने वाले समाज सेवक।"

29 अगस्त 1927 को शिमला में अमृता ने लिखा है–

"पूरे दो महीने बाद इर्विन अंकल का पत्र आया है।... आधे से ज्यादा पत्र मेरे बारे में थे।... उसे मॉडल के साथ काम करने के लिए कहिए। भीड़ को देखने दो। बाजार में सब्जीवाली, मटनवाला जैसे स्त्री-पुरुष देखने दो। उनकी मुद्राएँ, हाव-भाव, आनन्द, द्वेष, क्रोध, सबका अध्ययन करने दो। मुझे एकदम गुब्बारे में हवा भरने जैसी अनुभूति हुई। मेरा मन व्याकुल हो गया। मैं आकाश में उड़ने लगी। जैसे पंख लग गए हों। दौड़ते हुए आँगन में आई तो कुशी हमारी नौकरानी आँगन झाड़ रही थी। उसके काम करते हुए अनेक चित्र

निकाले। लगा, मेरी आँखें वस्तु के पार, त्वचा के भीतर भी देख सकती हैं।... कुशी को झाड़ू रखकर खाली बैठे हुए देखा तो मॉम ने आकाश सिर पर उठा लिया।

मै आने जाने वालों के चेहरे ध्यान से देखने लगी। पापा को अध्ययन में गर्क देखकर उनका चित्र बनाया। लम्बी दाढ़ी, झुकी गर्दन, सिर पर सरदारों की पगड़ी। उनके आसपास पुस्तकों का ढेर।"

समाज में व्याप्त विसंगतियों, कुरीतियों, विवाह संस्था आदि के विरुद्ध जाकर अमृता ने एक अलग जीवनयापन किया और समाज की रूढ़ियों को तोड़ते हुए स्वच्छंदता की हद तक स्वतन्त्र जीवन जिया। एक रचनाशील और नये आयामों की तलाश में इन्होंने परम्परागत जीवन को त्याग अपने ढंग से जीवन अपनाया जिसे किसी हद तक उच्छृंखल भी कहा गया। इन्होंने प्रसिद्ध कला समीक्षक कार्ल खण्डालवाला को एक पत्र में लिख कर यह विचार प्रकट किए थे–

"वास्तव में, मेरे विचार में, धार्मिक कला समेत सभी कलाएँ यौन आनन्द के कारण अस्तित्व में आई हैं, ऐसा यौन आनन्द, जो मात्र शारीरिक हदों से ऊपर बहता है।"

पेरिस में अमृता को मिली मारी ल्यूसी नाम की सहेली भी उसके मॉम के साथ झगड़े का कारण बनी। लाड से वह उसका निचला होंठ चूसती थी, बालों में उँगलियाँ घुमाती थी। उसने अमृता को जब मर्जी कपड़े उतारने का अधिकार दिया था। उसके बहुत से न्यूड चित्र अमृता ने बनाए। वे दोनों साथ-साथ रहने लगीं तो साथ की लड़कियाँ फब्तियाँ कसने लगीं। मॉम से भी जोरदार झगड़ा हो गया। अमृता ने लिखा है–

"...अब मैं बच्ची नहीं हूँ। मुझे भी समझ है। दो लड़कियों की माँ होते हुए भी तुम्हारे शरीर की आग अभी बुझी नहीं है। तुम उस जवान मार्सेल्लो के पीछे पागल हो गई थी। मैं तो युवा हूँ। मुझे भी शरीर है। मेरी भी कुछ जरूरतें हैं। कुछ दैहिक भी।...मेरी तरह से जीने का मुझे हक है। इस विषय में तुमने और कुछ कहा तो मैं रात को पिगाल की सड़क पर खड़ी होकर वेश्या का व्यवसाय करने लगूंगी।"

अमृता के साथ उसकी माँ ने आखिरी धोखा किया जब 1932 में उसका विवाह युसुफ अली से करवा दिया जिसके पहले ही तीन विवाह हो रखे थे। युसुफ को गुप्तरोग भी था जो अमृता को लग गया। वह पुनः मारी ल्यूसी के पास आ गई। इस दुखद क्षण में मारी ल्यूसी से अमृता का मिलाप विचलित कर देता है–

"उलझी दृष्टि से उसने मेरी ओर देखा। मुझे बाँहों में लिया। मुझसे रुलाई रोकी नहीं गई।... मारी, आज मेरी त्वचा छील डालो। सारे कष्ट शरीर के ही हैं न? इस देह को विद्रूप बना दो कि फिर कोई मुझे देख न सके।... उसका हाथ

मेरी पीठ सहला रहा था। उसने मुझे थोड़ी वाइन दी पीने के लिए। मुझे बेड पर सुलाया। मेरा चुम्बन लिया और फिर उसने मुझे अन्तर्बाह्य मथ डाला। मैं अनन्त हो गई।"

8 अगस्त, 1932 की डायरी से लगता है कि मारी ल्यूसी की ब्रेन ट्यूमर से मृत्यु हो गई। अमृता पापा को दूरबीन से तारामण्डल में मारी ल्यूसी को ढूँढने के लिए कहती है। मार ल्यूसी, जो रहस्यमयी थी। किसी ताला लगे हुए बक्से की तरह। लगता जैसे उसकी आत्मा उस बक्से में कैद हो हो। पता नहीं उसे ऐसा क्यों लगता थ कि उस बंद ताले की चाबी अमृता के पास है...।

इस तरह की अनेक मानसिक और शारीरिक यातनाएं पाने से अमृता की कला में निखार आता गया मगर अट्ठाईस साल की अल्प वय में ही उसकी मृत्यु हो गई।

अमृता शेरगिल भारतीय कला और मूर्तिकला से प्रभावित रहीं और भारत लौटने की चाह उनमें बराबर बनी रही। वे भारतीय कला की प्रशंसक रहीं। यद्यपि पिता उमराव शेरगिल नहीं चाहते थे कि वे भारत लौटें तथापि 1934 में भारत लौट आईं और शिमला में अपने माता-पिता के साथ रहीं। उनका पं. नेहरू के साथ भी पत्र-व्यवहार रहा। नेहरू की ऑटोबॉयोग्राफी पर अमृता ने प्रशंसा भरा पत्र लिखा। उन्होंने लिखा कि वे सामान्यतः ऑटोबॉयोग्राफी को पसंद नहीं करतीं क्योंकि वे झूठी होती हैं। किन्तु नेहरू की ऑटोबॉयोग्राफी मुझे पसंद है क्योंकि उन्होंने यह लिखा है कि ...जब मैंने समुद्र को पहली बार देखा... जबकि दूसरे कहेंगे कि जब समुद्र ने मुझे पहली बार देखा...।

अमृता ने 5 फरवरी, 1932 को पेरिस में डायरी में लिखा है कि उसने आज तक लगभग साठ चित्र बनाए हैं जिन्हें लोग खरीदना भी चाहते हैं। मारी ल्यूसी का पोर्ट्रेट भी बनायां एक रेखाचित्र 'ड्यूडिश' को देख कर बहन इन्दिरा ने कहा था कि तुम्हारे इस सेल्फ पोर्ट्रेट में तुम पुरुष की नग्न देह पर खड़ी काली लगती हो... खुले केश, क्रोधित शिव, शक्तिविहीन शव... तुम कालजयी लगती हो।

हाल ही में 'द ट्रिब्यून' में छपी एक खबर के अनुसार सन् 1931 में बनाया अमृता शेरगिल का एक दुलर्भ सेल्फ पोर्ट्रेट लंदन में हुई एक नीलामी में 1.7 मिलियन पाउंड में बिका जबकि न्यूयार्क में हुई नीलामी में एक दूसरा दुर्लभ अनटाईटलड सेल्फ पोर्ट्रेट 2.9 मिलियन पाउण्ड में बेचा गया जो भारतीय महिला कलाकार के लिए एक रिकार्ड है।

अमृता शेरगिल की मृत्यु अट्ठाईस साल की अल्पायु में सन् 1941 में लाहौर में हुई जबकि उनसे कला जगत को अभी और कलाकृतियों की अपेक्षा थी।

कृष्ण निवास, लोअर पंथा घाटी,
शिमला-171009 (हिमाचल प्रदेश)

भारतीय साहित्य और प्रारम्भिक उपन्यास

डॉ. सन्तोष कुमार राय

युवा लेखक-आलोचक डॉ. संतोष कुमार राय ने महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय से पीएच.डी. डिग्री प्राप्त की है। दिल्ली विश्वविद्यालय के सत्यवती कॉलेज में पूर्व तदर्थ अध्यापक एवं विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएं प्रकाशित।

आधुनिक भारतीय साहित्य में सर्वाधिक सशक्त और लोकप्रिय विधा के रूप में उपन्यास ने अपना स्थान बनाया है। उपन्यास के विषय में यह सर्वमान्य मत है कि वह पश्चिम की एक आधुनिक विधा है। भारतीय साहित्य में उपन्यास का उदय 19वीं शताब्दी के मध्य में हुआ। भारतीय साहित्य और समाज में अपनी कई तरह के विवाद और असहमतियाँ हैं। इन सबके बावजूद भारतीय साहित्य में उपन्यास का समुचित विकास हुआ। उपन्यास के उदय के समय भारतीय समाज की स्थिति वैसी ही नहीं थी जैसी पश्चिमी समाज की थी। पश्चिम में उपन्यास के उदय को लेकर औद्योगीकरण की सार्थकता को सर्वाधिक महत्व दिया जाता है लेकिन भारत में उस तरह का औद्योगीकरण होने के बजाय पारम्परिक उद्योगों के बंद होने की समस्या प्रबल थी, और जो नए उद्योग भारत में पनप रहे थे वे बहुत स्पष्ट नहीं थे जिससे पश्चिम की तुलना की जाय।

भारतीय साहित्य में उपन्यास का विकास मूलतः एक समस्यामूलक विधा के रूप में हुआ है। इसके मूल में भारतीय जनजीवन की सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और वैयक्तिक समस्याएँ हैं। इसका प्रमुख कारण उस समय की सामाजिक स्थिति है। भारतीय समाज मध्यकालीन मानसिकता से लगातार लड़ रहा था। ब्राह्मणवादी-वर्णवादी, मनुष्यता विरोधी समाज व्यवस्था ने भारतीय समाज को बहुत ही विद्रूप बना दिया था। उस समय की सामाजिक लड़ाई मानवता रक्षक लड़ाई थी। भारतीय साहित्य के सभी प्रारम्भिक उपन्यासों में इसे उठाया गया है। समस्याओं के स्वरूप में जैसे-जैसे परिवर्तन हुआ उपन्यास का स्वरूप भी परिवर्तित हुआ। यही कारण है कि पश्चिम के प्रारम्भिक उपन्यासों और भारतीय भाषाओं के प्रारम्भिक उपन्यासों में अन्तर्वस्तु के स्तर पर गहरी भिन्नता दिखाई देती है। पश्चिम के उपन्यासों के मूल में औद्योगीकरण के बाद का नया मध्यवर्ग है या यह कहा जाय कि इस नये मध्यवर्ग के जीवन की भाषा बनकर उपन्यास का उदय हुआ। लेकिन भारत में उपन्यास को औद्योगीकरण नहीं बल्कि मध्यकाल के बाद हुए परिवर्तनों (आन्दोलनों) के वैचारिक सर्मिन ने उसके उदय और विकास में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की, जिससे भारतीय साहित्य में उपन्यास एक विधागत आकार ग्रहण कर सका।

भारतीय साहित्य में उपन्यास का स्वरूप पश्चिम की तरह नहीं है। क्योंकि दोनों की परिस्थितियां एक जैसी नहीं थीं। पश्चिम से भारतीय साहित्य ने उपन्यास का ढांचा तो लिखा है लेकिन दोनों में अन्तर्वस्तुगत भिन्नता है। आधुनिक काल में पश्चिमी समाज और शिक्षा का स्तर जैसा था वैसा न तो भारत में था और न ही हो सकता था। इसलिए उपन्यास की अभिव्यक्ति में परिवर्तन तो होना ही था। पश्चिम में जिस तरह से औद्योगीकरण हुआ और सामंती ढांचे पूंजीवादी समाज के रूप में परिवर्तित हुए, साथ ही नगरीकरण हुआ, वैयक्तिक जीवन शैली का विकास हुआ, अर्थ निर्धारण व्यक्तिगत स्तर का होने लगा, पारम्परिक और रूढ़िवादी संस्कारों से मुक्त एक नए समाज की अवधारणा सामने आयी। भारत इनमें से अधिकाधिक बातों से वंचित रहा। क्योंकि भारत में न तो पश्चिम की तरह औद्योगीकरण हुआ, न ही आधुनिकता की अवधारणा विकसित

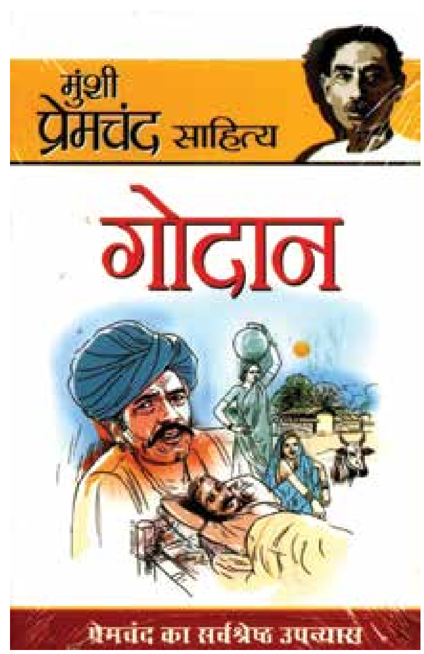

हुई, न तो नये मध्यवर्ग का उदय हुआ। इसलिए भारत में पश्चिमी जीवन शैली से अलग जीवन शैली का स्वरूप विकसित हुआ। उपन्यास, साहित्य की एक नयी विधा के तौर पर विकसित हो रहा था, जिसमें भारतीय समाज के हर पहलू को समेटकर अभिव्यक्त करने का सार्थक प्रयास हुआ।

भारतीय उपन्यासों में लिखे गये प्रारम्भिक उपन्यासों के विषय में अनेक बातें कहीं गयी हैं। 'परीक्षागुरू' हिन्दी भाषा का पहला उपन्यास है। इसके विषय में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है–"अंग्रेजी ढंग का मौलिक उपन्यास पहले-पहल हिन्दी में लाला श्रीनिवास दास का 'परीक्षागुरु' ही निकला था।"[1] भारतीय साहित्य के समक्ष दो धाराएं थी जिनसे उपन्यास 'काव्यरूप' जुड़ता है। पहली धारा, भारत की वैदिक काल से लेकर आधुनिक काल तक एक लम्बी कथा आख्यान की परम्परा है। दूसरी ओर, भारत ब्रिटेन का उपनिवेश था। तकनीकी शिक्षा आदि के साथ-साथ पश्चिमी साहित्य में भी भारतीयों की गहरी इच्छा स्वाभाविक है। इसलिए एक नये तरह की विधा से परिचित होना ही था। भारतीय उपन्यासों में इन दोनों परम्पराओं (भारतीय तथा पाश्चात्य) का समन्वित रूप उभरा हुआ है।

यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि भारतीय कथा लेखन की परम्परा के समानान्तर एक नये काव्यरूप की आवश्यकता क्यों पड़ी? चूंकि उपन्यास पश्चिम की आधुनिक और भौतिकवादी समाज में उपजी एक विधा है, जिसमें औद्योगीकरण के बाद के जीवन की अभिव्यक्ति है–क्या भारतीय समाज और जनमानस की स्थिति इस पश्चिमी स्वरूप के अनुकूल थी? इस संदर्भ में सर्वप्रथम उपन्यास के उदय के समय की सामाजिक स्थिति पर विचार करना चाहिए। उपन्यास के उदय का समय और भारतीय नवजागरण का समय एक है। यह वही समय है जब भारतीय समाज में राष्ट्रीय चेतना का नवोन्मेष और औपनिवेशिक सत्ता का विरोध हुआ। दूसरा, जो महत्त्वपूर्ण परिवर्तन है वह साहित्य में मध्यकालीन मानसिकता और रूढ़िवादी तथा पारम्परिक मानदण्डों के प्रतिरोध का भी। इस संदर्भ में रामदरश मिश्र का मत उद्धत है, "यह युग सांस्कृतिक पुनर्जागरण का था। राष्ट्रीय और सामाजिक जागृति की चेतना धीरे-धीरे विकसित होने लगी थी। उस काल के चिंतकों और कलाकारों को सामाजिक-धार्मिक रूढ़ियों और पाश्चात्य सभ्यता की अन्धी अनुकृतियां दोनों बुरी तरह सालने लगी थी।"[2] इस प्रकार भारतीय समाज में एक तरफ तो राष्ट्रीय जागरण की भावना पनप रही थी तो दूसरी तरफ सामाजिक रूढ़ियों से मुक्ति के प्रयास चल रहे थे। जिनमें बाल-विवाह, सती प्रथा आदि का विरोध तथा विधवा विवाह का समर्थन हो रहा था। इस तरह से समाज के हर क्षेत्र में पारंपरिक मानदंड टूट रहे थे और नई जीवनदृष्टि अपना रास्ता तलाश रही थी। पारंपरिक विधाओं में इस समाज की अभिव्यिक्ति संभव नहीं थीं क्योंकि यह उनकी साहित्यिक सीमा और विधागत मानदण्डों के दायरे से बाहर था। इसलिए नवजागरण काल में एक नयी विधा की आवश्यकता थी जिसकी कमी को उपन्यास ने पूरा किया। यहाँ यह कहना बहुत तर्कसंगत नहीं है कि भारत में उपन्यास का विकास सिर्फ पश्चिमी साहित्य के आने से हुआ, बल्कि बहुत हद तक हमें भी इस तरह के साहित्यरूप की आवश्यकता थी जो इस बदलते हुए समाज की स्थिति को साहित्यिक परिणति दे सके।

भारत में आधुनिकता का उदय और विकास गुलामी की दासता बीच हुआ है। आधुनिक काल में भारत की वैश्विक पहचान पश्चिम के उपनिवेश के रूप में ही हुई। बहुत हद तक पश्चिमी तर्ज पर ही भारत में आर्थिक रूप से भौतिकवादी दृष्टिकोण का विकास हुआ। जिस तरह पश्चिम में औद्योगीकरण और तकनीकीकरण के कारण आधुनिकता आयी, उसका प्रभाव थोड़ा ही सही, भारत पर भी पड़ा। भारत में भी भौतिकवादी समाज का स्वरूप गठित हुआ, जो इहलौकिक दृष्टिकोण पर आधारित था। भारत में यह समय पुनर्जागरण, स्वाधीनता आंदोलन और प्रबोधन चेतना का है। भारतीय जनमानस के लिए यह नये मूल्यों के स्वीकार का समय है। यह समय पुरानी आकांक्षा के अवसान और नये जीवन मूल्यों के उदय का है।

प्रबोधन-चेतना ने शिक्षा में सुधार के साथ-साथ समाज के रूढ़ व्यवहारों और पाखण्डों के दायरे से भारतीय जनजीवन को बाहर निकालने का भी प्रयास किया। स्वाधीनता आन्दोलन ग्रामीण किसानों तक पहुँचा जिसका प्रतिफलन 1857 की क्रान्ति के रूप में सामने आया। इस प्रकार इन परिवर्तित परिस्थितियों के साथ खड़े होने के लिए एक नयी विधा की आवश्यकता थी। जिसकी पूर्ति भारतीय भाषाओं में लिखे गए उपन्यासों ने किया। उपन्यास के उदय से पहले भारतीय साहित्य में कथा की अलग-अलग परम्पराएं मिलती हैं। संस्कृत साहित्य की परम्परा में 'आख्यान' का प्रचलन है, मराठी में 'कादम्बरी' तथा उर्दू में 'दास्तान'। संस्कृत की परमपरा आगे लोक भाषाओं से जुड़ती हैं और आख्यानों का विकास होता है। मराठी साहित्य में उपन्यास लेखन से पूर्व जो कथा की परम्परा थी उसे कादम्बरी के नाम से जाना जाता था। उर्दू में कथा के जो स्रोत थे उन्हें दास्तान कहा जाता था। उपन्यास ने एक 'काव्यरूप' में आधुनिक काल के कथा लेखन को बांध दिया। सभी भारतीय भाषाओं में उपन्यास विधा का आरम्भ हुआ।

वैसे भारत में प्रायः सभी भाषाओं में कथा की परम्परा मौजूद है। इसलिए उपन्यास के प्रस्थान को तय करना कठिन है। कथा संरचना और उपन्यास के ढांचे में यदि लिखित कथा की बात की जायेगी तो यह कहा जा सकता है कि मराठी में लिखी गयी कथा 'यमुना पर्यटन' भारतीय साहित्य का पहला उपन्यास था। कुसुमावती देशपांडे के अनुसार 'यमुना पर्यटन' की रचना 1857 में हुई थी। इसके रचनाकार बाबा पदमजी हैं।"[3] यह उपन्यास तत्कालीन सामाजिक राजनीतिक स्थितियों को आधार बनाकर लिखा गया था।"[4]

बङ्ला साहित्य में 1862 में ऐतिहासिक उपन्यास नामक पुस्तक लिखी गयी। इसमें एक कहानी तथा एक लघु उपन्यास है। इसके लेखक भूदेव मुखर्जी है।[5] लेकिन एस.के. दास ने 1865 में प्रकाशित 'दुर्गेशनन्दिनी' को बङ्ला का पहला उपन्यास स्वीकार किया है।[6] सुकुमार सेन का मानना है कि, "सही अर्थों में बङ्ला कथा-साहित्य की अर्थात् बंगाल के जीवन और पद्धतियों का मौलिक चित्रण प्यारी चाँद मित्र ने आरम्भ किया।।"[7] आगे वे लिखते हैं कि, "मित्र की पहली, और सर्वाधिक प्रातिनिधिक रचना 'आलालेर घरेर दुलान' मौलिक कथा का सबसे पहला उदाहरण है। 1857 में यह पुस्तकाकार प्रकाशित हुई।"[8]

उर्दू में उपन्यास से पहले दास्तान की परम्परा मिलती है। हिन्दी में भी दास्तान मिलते हैं। रानी केतकी की कहानी आदि हिन्दी की प्रारम्भिक कहानियां दास्तान परम्परा में ही लिखी गयी हैं। उर्दू उपन्यास की तर्ज पर लिखी गयी दास्तान 'फसना-ए-अजब' है। इसे रजब अली बेग ने 1842 में लिखा था।"[9] उर्दू में पहले उपन्यासकार के रूप में कुछ लोगों ने करीमुद्दीन को माना है, और उनकी पहली रचना 'खत-ए-तकदीर' को उर्दू का पहला उपन्यासकार और 1869 में प्रकाशित 'मिरात-उल-उर्स' को पहला उपन्यास माना गया है।[11]

हिन्दी में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'परीक्षागुरु' को पहला उपन्यास माना है। 'परीक्षागुरु' का प्रकाशन काल 1882 ई. है और इसके लेखक श्रीनिवास दास हैं। इसके बाद हिन्दी में राधाकृष्ण दास का 'निस्सहाय हिन्दू' और बालकृष्ण भट्ट का 'नूतन ब्रहमचारी' और 'सौ अजान एक सुजान' प्रकाशित हुए। इससे पहले हिन्दी में 'भाग्यवती', 'वामा शिक्षक और 'श्यामा स्वप्न' लिखे जा चुके थे। अन्य भारतीय भाषाओं में गुजराती में पहला उपन्यास 'कर्ण घेलो' का प्रकाशन 1886 में हुआ।"[12] नन्दा शंकर तुलजा शंकर मेहता का यह उपन्यास गुजरात के राजा के ऐतिहासिक अवदान पर आधारित है। तमिल का पहला उपन्यास वेदनायकम पिल्लै के द्वारा 1876 में लिखा गया। 'प्रतावमुदलिनार चरित्रम्' का प्रकाशन 1876 में तथा 'सुगुण सुन्दरी' का प्रकाशन 1877 में हुआ।"[13] तेलुगु में कन्डूकूरी विरसालिंगम पान्टलू का उपन्यास 'राजशेखर चरित्र' का प्रकाशन पहले 'विवेक चन्द्रिका' नामक पत्रिका में हुआ। बाद में इसका पुस्तकाकार प्रकाशन 1880 में हुआ।"[14] इस प्रकार भारतीय साहित्य के प्रारम्भिक उपन्यास इन सभी भाषाओं में प्रकाशित हुए। इसके बाद मलयालम असमिया, उड़िया, पंजाबी और कन्नड़ आदि में उपन्यास लिखे गये। प्रारम्भ के सभी उपन्यासों का स्वरूप लगभग पश्चिमी मॉडल पर आधारित है। भारतीय कथा लेखन की परम्परा से बाहर निकलते हुए ये उपन्यास भारतीय साहित्य में एक नयी विधा की स्थापना करते हैं।

भारतीय साहित्य में उपन्यास के उदय पर यह प्रश्न उठता है कि पश्चिमी ढांचे को भारतीय साहित्य ने कैसे स्वीकार किया? पश्चिम में मध्यवर्ग की विधा के रूप में उपन्यास को देखा गया, क्या भारत में भी इसने मध्यवर्ग की विधा का ही प्रतिनिधित्व किया? इन प्रश्नों के संदर्भ में नामवर सिंह का विचार है कि–"एक विधा के रूप में उपन्यास की हमारी समझ बुनियादी रूप से एक औपनिवेशिक समझ है। अंग्रेज विद्वानों को लगता था कि भारत के उपन्यास पश्चिमी उपन्यासों की सीधी नकल है। उन्होंने भारतीय उपन्यास को एक कलमी पौधे की तरह देखा तो हमने भी अपने आरम्भिक उपन्यासों को कुछ क्षमा मांगती नजरों से ही देखना शुरू किया।"[15] इसमें कोई सन्देह नहीं कि उपन्यास का उदय पश्चिम में ही हुआ। हमारे यहाँ यह विधा पश्चिम से आयी यह इसलिए माना जाता है क्योंकि, भारत ब्रिटेन का उपनिवेश था। इस तरह पश्चिमी शिक्षा और बदलावों के सम्पर्क में भारत था। इसे स्पष्ट करने के लिए शिशिर कुमार दास का मत दृष्टव्य है–"भारतीय उपन्यास पश्चिमी नमूने और देसी आख्यान-परम्पराओं के बीच के तनाव से उपजा है।"[16]

उपन्यास के उदय के समय पश्चिम में जिस तरह की परिवर्तनकारी परिस्थितियां थी, भारत भी कुछ वैसी ही परिस्थितियों के दौर से गुजर रहा था। पश्चिम में उपन्यास मूलतः पुनर्जागरण के बाद विकसित होता है। भारत में भी इसका उदय नवजागरण के साथ होता है। भारत के लिए यह समय संक्रान्ति का है। यानि एक तरफ पुराने मानदण्ड तो दूसरी ओर गुलामी की जकड़न। भारत में यह समय दोनों के विरुद्ध विद्रोह का है। एक ओर पुराने मानदण्डों के प्रति भारतीय जनमानस तार्किक हो रहा था अर्थात् तर्क और विज्ञान की कसौटी पर विचारों को कसा जा रहा था। भावुकता से बाहर निकलकर अन्धविश्वास और धार्मिक रूढ़ियों से सामान्य जीवन अलग हो रहा था। इस संदर्भ में मधुरेश का मानना है कि "भारत में ब्रिटिश राज की स्थापना के

बाद मध्यवर्ग का विकास तेजी से होने लगा था। दुनिया में सब कहीं उपन्यास इसी मध्यवर्ग की आवश्यकताओं और आकांक्षाओं से जुड़ा साहित्य-रूप रहा है।"[17] भारतीय साहित्य में जो प्रारम्भिक उपन्यास लिखे गये उनमें सर्वाधिक लोकप्रिय मराठी और बंङ्ला में लिखे गये। क्योंकि बङ्ला और मराठी का सीधा सम्पर्क अंग्रेजी से था, अपेक्षाकृत अन्य भारतीय भाषाओं के। मधुरेश इसे स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि, "उपन्यास पहले उन भारतीय भाषाओं- मराठी और बङ्ला-में लिखे गये जो पहले सीधे तौर पर अंग्रेजी के सम्पर्क में आ चुकी थी। अंग्रेजी जानने-पढ़ने वाले उत्साही लोगों ने, जो स्वाभाविक रूप से शहरों में रहते थे, शहरी जीवन को ही केन्द्र में रखकर विभिन्न भारतीय भाषाओं में उपन्यास की शुरूआत की। यही कारण है कि एक साहित्य-रूप के तौर पर उपन्यास कहीं थोड़ा पहले कहीं थोड़ा बाद में, उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारतीय मिट्टी में अपनी जड़ें रोपता दिखाई देता है।"[18]

भारत में जो मध्यवर्ग की अवधारणा है वह पश्चिम जैसी नहीं है। भारत में विकसित होने वाला मध्यवर्ग सामंती मानसिकता से बहुत अलग नहीं हो पाया है। पश्चिम जैसा औद्योगीकरण भारत में नहीं हुआ इसलिए पश्चिम जैसे मजदूरों के संगठन का विकास भी यहाँ नहीं हुआ। भारतीय समाज मूलतः किसान जीवन पर आधारित था। यही किसान पूंजीपति और सामंत भी थे जिनका एक रूप महाजनों के नाम से सामने आया। दूसरा तबका छोटे किसानों का था जिन्हें सर्वहारा कहा जा सकता है। अंग्रेजों के आने के बाद जो सबसे बड़ा परिवर्तन हुआ वह ये कि भारत की पहचान एक राष्ट्र के रूप में बनी। 1857 के विद्रोह से पहले तक भारत छोटी-छोटी रियासतों में बंटा था। एक भारत के भीतर अनेक देश हो गये थे। भारतीय समाज में घर से दूर अन्य जगहों को आज की परदेश माना जाता है। यह परदेश वास्तव में भारत के एक रियासत से दूसरे में जाने पर माना जाता था। ब्रिटिश शासन ने सारी रियासतों को समाप्त करके एक देश के रूप में भारत को स्थापित किया। इसके बाद भारतीय किसानों में राष्ट्रीय अस्मिता की पहचान का उदय हुआ जिनकी परिणति 1857 के विद्रोह के रूप में हुई और अंग्रेजों के विरूद्ध गुलामी की दासता से मुक्ति के संग्राम की विधिवत शुरूआत हुई।

नवजागरणकालीन समय में भारतीय जनमानस में जो बदलाव आये उनका प्रभाव तत्कालीन साहित्य पर भी पड़ा। भारतीय उपन्यासों के संदर्भ में यह कहना अधिक उचित होगा कि भारत में उपन्यास सिर्फ मध्यवर्ग की पृष्ठभूमि पर आधारित नहीं है। यहाँ के प्रारम्भिक उपन्यास मध्यवर्गीय जीवन की विसंगतियों और पारम्परिक रूढ़ियों के विरोध में एक सुधारवादी अवधारणा का प्रतीक बनकर आता है। नवजागरणकालीन सुधारवादी आन्दोलनों का प्रभाव प्रारम्भिक उपन्यासों में साफ-साफ दिखाई देता हैं

भारतीय साहित्य में जो प्रारम्भिक उपन्यास लिखे गये उनके विषय कई तरह के थे। यह भी कहा जा सकता है कि जैसे-जैसे उपन्यास लेखन का विकास हुआ, उपन्यास का ढांचा और विषयवस्तु दोनों में परिवर्तन आया। प्रारम्भिक चरण में समाज सुधार से सम्बन्धित यथार्थवादी उपन्यास लिखे गये। इसके बाद राजनैतिक और ऐतिहासिक उपन्यास लिखे गये। सामाजिक बुराईयों पर आधारित नये मूल्यबोध के यथार्थवादी उपन्यास भी लिखे गये तथा कुछ रोमांसपरक। प्रारम्भिक उपन्यासों के संदर्भ में नलिन विलोचन शर्मा ने लिखा है, "प्रारम्भकालीन उपन्यासों में वस्तु में जटिल विन्यास, मनोवैज्ञानिक तत्त्व, नाटकीय पेचीदियों और विश्वासोत्पादक चरित्रांकन का अभाव है, किन्तु रूमानियत और दुस्साहसिकता के वृत्तांतों से भरे उपन्यासों में भी एक वास्तविकता की ऐसी बुनियाद पायी जाती है, जो आगे चलकर उपन्यास की मुख्य विशेषता बन पाती है।"19 हिन्दी में प्रारम्भ में 'परीक्षा गुरु' के वृत्तांतों को देखा जा सकता है। उसी प्रकार मराठी में 'यमुना पर्यटन' और गुजराती में 'कर्णघेलो'। उपन्यास के उदय की बुनियाद मूलतः भारतीय नवजागरण पर खड़ी है। भारतीय नवजागरण के परिप्रेक्ष्य में रामचन्द्र तिवारी ने लिखा है, "हिन्दी उपन्यास ने यूरोपीय ढांचे को स्वीकार करते हुए भी उसके दायरे में अपना निजी और मौलिक ढांचा विकसित किया है। जिस प्रकार यूरोपीय उपन्यास के उद्भव और विकास में यूरोपीय नवजागरण की भूमिका महत्त्वपूर्ण है, उसी प्रकार हिन्दी उपन्यास के विकास में भारतीय नवजागरण और हिन्दी नवजागरण की भूमिका महत्त्वपूर्ण है। भारतीय नवजागरण ने यूरोपीय नवजागरण से उत्तेजना भले ही प्राप्त की हो, उसका स्वरूप नितांत मौलिक है। भारतीय नवजागरण औपनिवेशिक मानसिकता के विरूद्ध हमारे बौद्धिक संघर्ष और मुक्ति-कामना का द्योतक है।"[20]

"उपन्यास को सामान्य कथा से अलग करने वाला प्रमुख तत्त्व 'यथार्थ' के प्रति आग्रह है, जो कथा के कल्पित संसार कथ्य और भाषा में दिखाई देता है।"[21] हिन्दी में 'देवरानी जेठानी की कहानी' से परम्परा में परिवर्तन के सूत्र मिलने लगते हैं। यह अलग प्रश्न है कि उसे उपन्यास के रूप में स्वीकार नहीं किया गया लेकिन वहीं से दिखाई देना शुरू हो जाता है। इसमें मध्यवर्गीय रूढ़ियों का अवमूल्यन और नये मूल्यबोध का प्रतिस्थापन, मानव जीवन और स्त्री-

शिक्षा को प्रमुखता से उभारा गया है। इस कहानी में घरेलू जीवन का नया भावबोध है जिसे कुछ उपदेशपरक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। इसमें स्त्री-शिक्षा इसका मुख्य मुद्दा है लेकिन इसके इर्द-गिर्द जीवन के अनेक पहलू आये हैं जो आधुनिक जीवन-दृष्टि के संकेत देते हैं। गोपाल राय इसके संबंध में लिखते हैं कि, "देवरानी जेठानी की कहानी केवल स्त्री-शिक्षा की कहानी नहीं है, वरन् यह उन्नीसवीं शताब्दी के मध्यवर्गीय बनिया समाज के जीवन का प्रतिनिधि यथार्थ चित्र भी हैं। यह चित्रण किसी इतिहास से अधिक प्रामाणिक है, क्योंकि कथाकार ने अपने प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर इस वर्ग की आर्थिक अवस्था, रीति-रिवाज, जन्म से लेकर मृत्यु तक के संस्कार, पुरानी और नयी सोच, सामाजिक और धार्मिक विश्वास, नैतिक मूल्य, समाज में व्याप्त अशिक्षा, अन्धविश्वास, रूढ़िवादिता, अपव्यय, बाल विवाह, विधवाओं की दशा आदि का चित्रण किया है।"[22] तत्कालीन समाज में हिंदू धर्म की रूढ़ियों की जकड़न इतनी संश्लिष्ट थी कि विधवा विवाह जैसी बातें करना भी पाप था। राजा राममोहन राय ने सती प्रथा के विरोध में जो समाज सुधार का आन्दोलन शुरू किया उसे सर्वत्र धार्मिक संस्थाओं के द्वारा व्यापक विरोध का सामना करना पड़ा। लेकिन इस आन्दोलन को व्यापक समर्थन साहित्यकारों के द्वारा मिला और विधवा-विवाह, बाल विवाह, सतीप्रथा आदि को लेकर भारतीय साहित्य में बहुत-सारी रचनाएं हुई।

समाज सुधार का अंकुर जो 'देवरानी जेठानी की कहानी' में फूटा था उसका विकास भारतेन्दु काल के उपन्यासों में विकसित हुआ। बङ्ला में बंकिम ने इसे आत्मसात कर उपन्यासों में अभिव्यक्त किया। हिन्दी में समाज सुधार के केन्द्र में रखकर जो उपन्यास लिखे गये उनमें रत्नचन्द्र प्लीडर का 'नूतनचरित्र' (1893), अम्बिका दत्त व्यास का 'आश्चर्य वृत्तान्त' (1894), राधाचरण गोस्वामी का 'विधवा विपत्ति' (1888), राधाकृष्ण दास का 'निस्सहाय हिन्दू' (1889), बालकृष्ण भट्ट का 'नूतन ब्रह्मचारी' (1887) तथा 'एक अजान सौ सुजान' प्रमुख हैं। बङ्ला में 'दुर्गेशनंदिनी', 'कपाल कुण्डला' और मराठी में हरिनारायण आपटे के उपन्यासों की भावभूमि प्रमुख है। गुजराती में 'कर्णघेलो' भी समाज सुधार को लेकर लिखा गया यथार्थवादी उपन्यास है। 'निस्सहाय हिन्दू' में गोहत्या के विरोध का स्वर प्रमुख है। गोहत्या तत्कालीन समाज की राष्ट्रीय समस्या बन गयी थी। यह उपन्यास साम्प्रदायिक एकता के साथ गोहत्या के विरोध में खड़ा होता है। कभी न समाप्त होने वाली इस समस्या के साथ उपन्यासकार ने यथार्थ से परिचय कराया है। भट्ट जी के 'नूतन ब्रह्मचारी' में हिंसा और अहिंसा को आधार बनाया गया है जिससे ब्रिटिश सरकार की नृशंसता का परिचय होता है और एक आशावादी भारतीय दृष्टि सामने आती है, जिससे हिंसा पर अहिंसा की विजय का बोध प्रदर्शित होता है। रत्नचन्द्र का 'नूतन चरित्र' भी इसी तरह का उपन्यास है। रूमानियत के आवरण में सुधारवादी धारा का उपन्यास समाज को पारम्परिक मूल्यों से बाहर निकालने का सफल प्रयास करता है। इस क्रम में सबसे सशक्त उपन्यास राधाचरण गोस्वामी का 'विधवा विपत्ति' है। भारतीय समाज के लिए अभिशप्त स्त्री समस्या विधवा का सती होना था। विधवा का सामाजिक बहिष्कार और अपमान भारतीय समाज में कोढ़ की तरह फैला हुआ था। इसमें अपमानित तथा लांछित बाल विधवाओं की समस्याओं को उठाया गया है। जिस समस्या को सामाजिक आन्दोलनों के द्वारा उठाया गया उसकी साहित्यिक परिणति 'विधवा विपत्ति' में हुई है। हिन्दी साहित्य में इसी से मिलती हुई दो और रचनाएँ इसी दौर में लिखी गयीं। "ईश्वरीय प्रसाद और कल्याण राय कृत 'वामा शिक्षक' (1872) जिसका प्रकाशन 1883 में हुआ।"[23] और श्रद्धाराम फुल्लौरी रचित 'भाग्यवती' (1887)। 'वामा शिक्षक' में नवजागरणकालीन चेतना और सुधारवादी दृष्टि है। परम्परागत सामाजिक मूल्यों और मान्यताओं में जकड़े हुए समाज का चित्रण है। हिन्दू समाज की कुरीतियों, पाखण्डों और खोखलेपन को उजागर करने का प्रयास है। 'भाग्यवती' में बाल विवाह जैसी कुरीतियों का जोरदार विरोध और विधवा विवाह का समर्थन है। समाज में हो रहे बदलाव को इस रचना में रचनाकार ने कई कोणों से प्रस्तुत किया है। स्त्री शिक्षा के साथ-साथ इसमें स्त्री के स्वाभिमान और कर्म पर भी बल दिया गया है। बङ्ला के सभी प्रमुख उपन्यासों में यह चेतना विद्यमान है। मराठी के 'यमुना पर्यटन' भी सुधारवादी दृष्टि का उपन्यास है। उसमें सामाजिक समस्या के मूल में धार्मिक पाखण्ड और धर्मान्तरण के साथ मानवीय मूल्यों में बदलाव की ओर संकेत है। गैर धर्म के लोगों के साथ विवाह को नकारना और स्त्री शिक्षा पर रोक लगाना उस समय की मानसिकता और जीवन को व्यक्त करता है। इस उपन्यास ने स्त्री के व्यक्तिगत निर्णयों को इसके माध्यम से उभारने का प्रयास किया है। बाल विवाह के दुष्कर्मों को भी इसमें सम्मिलित किया गया है।

भारतीय साहित्य में प्रारम्भिक उपन्यास लेखन का एक बहुत बड़ा भाग तिलिस्मी-ऐयारी लेखन से जुड़ा है। मराठी में में कई रचनाएँ इससे जुड़ी हुई हैं। हिन्दी में भी देवकीनन्दन खत्री और गोपालराम गहमरी की रचनाएँ ऐसी ही हैं। हिन्दी में 'चन्द्रकान्ता' (1887) का प्रकाशन कथा-साहित्य की नयी दिशा निर्धारित करता है। इसके

साथ ही भारतीय कथा जगत में पाठकों का एक बड़ा वर्ग तैयार होता है। इसके बाद 'चन्द्रकान्ता सन्तति' का भी प्रकाशन हुआ। 'चन्द्रकान्ता सन्तति' के चौबीस हिस्सों का प्रकाशन हुआ। इस तरह व्यापक लोकप्रियता 'चन्द्रकान्ता', 'चन्द्रकान्ता सन्तति' और 'भूतनाथ' को प्राप्त हुई। तिलिस्म और ऐयारी से परिपूर्ण रचनाएँ मराठी में भी हुई। राजवाड़े ने इस सम्बन्ध में उल्लेख किया है कि, "अपनी निर्बलता का वास्तविक ज्ञान ही तिलिस्म की नींव है। प्रत्यक्ष तथा वास्तविक सृष्टि में अपने किये कुछ नहीं हो सकता, यह जानकर मनुष्य कल्पना-सृष्टि में तिलिस्म की दुनिया में विहार करने लगता है। यथार्थ सृष्टि का गुलाम कल्पना-सृष्टि का बादशाह बन जाता है। यथार्थ की असम्भावनाएँ कल्पना में सम्भावनाएँ बन जाती हैं। तिलिस्म की यही अजीब दुनिया तिलिस्मी उपन्यासों का विषय है।"[24] मराठी में प्रारम्भिक तिलिस्मी उपन्यासों में 'मुक्तमाला', 'रत्नप्रभा', 'मंजुघोषा', 'विचित्रपुरी' आदि हैं। इस प्रकार भारतीय भाषाओं के प्रारम्भिक उपन्यासों में तिलिस्म और ऐयारी को आधार बनाया गया। यथार्थवाद तो उपन्यास के मूल में है। कुछ काल्पनिक सृजन को छोड़कर उपन्यासों में यथार्थ की संकल्पना किसी न किसी रूप में होती है। अपने समय और समाज को किसी भी तरह उपन्यास नजरअंदाज नहीं कर सकता। हर तरह के उपन्यासों पर अपने समय की प्रतिच्छाया रहती ही है।

इसके बाद भारतीय साहित्य के प्रारम्भिक उपन्यासों में राजनीतिक और ऐतिहासिक आते हैं। राजनीतिक उपन्यासों में सबसे पहले बङ्ला के उपन्यास आते हैं। बंकिम के 'आनन्दमठ' और हिन्दी में श्रीनिवास दास के 'परीक्षा गुरू' से उपन्यासों में राजनीतिक अवधारणाओं के प्रयोग मिलने लगते हैं। 'आनन्दमठ' में 1773 के उत्तरी बंगाल में हुए संन्यासियों के विद्रोह को आधार बनाया गया है।"[25] बंकिम ने इसे एक राजनीतिक तथा धार्मिक रंग दिया है। इस उपन्यास में अंग्रेजी हुकूमत के विरुद्ध राजनीतिक संघर्ष को प्रोत्साहित किया गया है। इसी में भारत का राष्ट्रीय गीत 'वन्देमातरम्' भी है जो हिन्दू राष्ट्रवाद की पक्षधरता की तरफ भी संकेत करता है। सुकुमार सेन के अनुसार, "बंकिम चन्द्र, अंग्रेजी राज्य को न केवल भारत भूमि का सच्चा पुत्र होने के कारण ही विशेष पसन्द करते थे बल्कि इसके कुछ व्यक्तिगत कारण भी थे। वे क्रमशः शक्तिशाली होते हुए राष्ट्रीय आन्दोलन से अनभिज्ञ नहीं थे। आनन्दमठ उसका प्रतिशोध होने के साथ-साथ प्रशस्ति भी थी। कथा साहित्य की दृष्टि से इसे विशिष्ट कृति नहीं कहा जा सकता। पर चूँकि यह बंगाल और भारत को वंदेमातरम् गीत जो पहला राष्ट्रीय गीत है, देते हुए हिन्दू राष्ट्रवाद के सिद्धान्त की व्याख्या और दृष्टांत दोनों प्रस्तुत करता है, अतः यह इस महान लेखक की सर्वाधिक जीवन्त कृति है। संयोग से इसने ऐसे विविध धार्मिक, देशभक्तिपरक और राष्ट्रीय क्रिया-कलापों को प्रबल प्रोत्साहन दिया जिनका आरम्भ बीसवीं शताब्दी के पहले शब्द में हिन्दू धर्म-प्रचार के कार्य-कलाप से हुआ और चरम परिणति बंगाल के क्रान्तिकारी आन्दोलन में हुई।"[26] इस प्रकार साहित्य में राजनीति को जगह मिली, वह भी उपन्यासों के माध्यम से। 'परीक्षागुरु' में भी मध्यवर्गीय जीवन की विसंगतियों के साथ एक राजनीतिक चेतना और राष्ट्रीय स्वर विद्यमान है। मराठी में बिनायक कोंड देव का 'सृष्टिदार' (1881) और 'करकुन्स' आदि राजनीति चेतना सम्पन्न उपन्यास हैं।

इसी के साथ ऐतिहासिक उपन्यासों का भी दौर प्रारम्भ होता है। ऐतिहासिक तथ्यों को आधार बनाकर भारतीय साहित्य में कुछ उपन्यास प्रारम्भिक समय में भी लिखे गये। हिन्दी में किशोरी लाल गोस्वामी से ऐतिहासिक उपन्यास लेखन का प्रारम्भ होता है। इस दृष्टि से गोस्वामी जी का 'तारा' महत्वपूर्ण है। गोस्वामी जी के उपन्यासों के संदर्भ में शशि भूषण सिंहल ने लिखा है, "इतिहास सम्प्रदाय विशेष का उत्कर्ष अथवा कुछ व्यक्तियों का गौरववृत्त मात्र नहीं है, यह मानव जाति के विकास की गाथा है। इसमें मनुष्य का समाज सापेक्ष जीवन रहता है, जो अनेक राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक आदि तत्वों के अनवरत संघर्ष और विकास की देन है। गोस्वामी जी के उपन्यासों में चित्रित जीवन, व्यक्तियों की प्रेम भावना तथा उनकी क्षुद्र महत्त्वाकांक्षाओं के क्षेत्र तक सीमित है।"[27]

बङ्ला में बंकिम कृत 'मृणालिनी' से ऐतिहासिक उपन्यासों का आरम्भ होता है। लेकिन 'कपाल कुण्डला' भी ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर ही लिखा गया है। इसके बाद ऐतिहासिक उपन्यासों की एक लम्बी परम्परा चल पड़ती है। कृष्णा गोखले के अनुसार मराठी के 'मुक्तमाला', 'राजा मदन' ऐतिहासिक उपन्यास हैं। 1870 में रामचन्द्र भीखा जी गुंजेकर द्वारा लिखा गया मराठी का पहला ऐतिहासिक उपन्यास 'मोसेनगाद' है। गुजराती में 'कर्णघेलो' भी इसी परम्परा का उपन्यास है। गुजराती के ही इच्छाराम सूर्यराम देसाई का 'सूरन्ती शिवाजी की लटा' भी इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। असमिया के पद्मनाथ गोहेन बरुआ का 'भानुमती' और 'लहरी' भी ऐतिहासिक उपन्यासों की कोटि में आते हैं। इस परम्परा को आगे बढ़ाते हुए रजनीकांत बरडोले ने 'मानोमती' की रचना की है। मलयालम में 'मार्तन्ड वर्मा' का प्रकाशन 1891 में हुआ। सी.बी. रमन पिल्लै द्वारा लिखित

इस उपन्यास को मलयालम का पहला उपन्यास माना जाता है।"[28] ऐतिहासिक उपन्यासों में इतिहास के साथ-साथ भारत की सांस्कृतिक समस्याओं को भी उपन्यासों में प्रयोग किया है। 'दुर्गेशनन्दिनी' का नायक राजपूत है और नायिका बंगाली। इस प्रकार इसके माध्यम से दो अलग जगहों के अतीत को आधुनिक संदर्भ और दृष्टि के साथ एक उपन्यास में सम्मिलित किया गया है। हिन्दी में बलदेवप्रसाद मिश्र कृत 'पृथ्वीराज चौहान' (1902) और किशोरीलाल गोस्वामी का 'सुल्ताना रजिया' भी ऐतिहासिक उपन्यास है।"[29] रोमांटिक कहानी के रूप में इन उपन्यासों में इतिहास का प्रयोग किया गया है।

साहित्य और इतिहास में कुछ बुनियादी फर्क है। साहित्य में प्रयुक्त इतिहास सिर्फ तथ्य तक सीमित नहीं रहता, उसकी साहित्यिक और सामाजिक भूमिका भी होती है। उपन्यासों में इतिहास का प्रशस्तिवाचन नहीं होता है बल्कि साहित्य और समाज के अतीत से रिश्ते को साहित्यिक स्वीकृति प्रदान की जाती है। साहित्य में इतिहास के प्रयोग से उस ऐतिहासिक कालखण्ड को समकालीन सन्दर्भों से जोड़ने का प्रयास भी होता है जिससे परम्परा के विकास को अभिव्यक्ति मिले। रामदरश मिश्र ने ऐतिहासिक उपन्यास लेखन के संदर्भ में अपना मत कुछ इस तरह प्रस्तुत किया है, "इस काल में (उपन्यास लेखन के प्रारम्भिक काल में) गौरवमयी अतीत की ओर दृष्टि जाना स्वाभाविक था। मध्यकाल में हम मानो सब खो चुके थे, जीवन के बाह्य विधानों में ही उलझे रह गये थे। हमारा वर्तमान दयनीय था, हम विदेशी सत्ता से पराभूत तो थे ही अपनी सामाजिक और धार्मिक रूढ़ियों और अंधविश्वासों में भी जकड़े रह गये थे। विदेशी सत्ता ने हमें पराभूत तो किया, किन्तु जीवन को यथार्थवादी दृष्टि से देखने के लिए प्रेरित भी किया और तब अपना मार्ग खोए हुए कुछ लोग विदेशी संस्कृति और सभ्यता की ऊपरी चकाचौंध से ही जा उलझे। ऐसे अवसर पर अपने इतिहास के गौरव की याद आना और उसे पुनर्जीवित करने का प्रयास करना स्वाभाविक था। ऐतिहासिक उपन्यास लिखकर लेखकों ने मानों अपनी सांस्कृतिक विरासत को पुनः जागृत करना चाहा।"[30] ऐतिहासिक उपन्यासों के इस प्रयास ने जीवन के यथार्थ और साहित्य में उसके समावेश, वह भी उपन्यास के माध्यम से, को आधुनिक जीवन की विसंगतियों को समझने में सरलता प्रदान की। इसके उद्देश्य को व्यक्त करते हुए रामदरश मिश्र ने लिखा है, "ऐतिहासिक उपन्यासों में दो बातें विशेष ध्यान देने की होती हैं, एक तो अभिप्रेत काल के जीवन यथार्थ से घनिष्ठ रूप से परिचित होना, दूसरे इतिहास के तथ्यों के साथ कल्पना का सुन्दर समन्वय कर साहित्यिक कृति का निर्माण करना। इन उपन्यासों में अभिप्रेत काल के समाज की जटिल सामाजिक स्थितियों, मानव-मन की आकांक्षाओं, प्रश्नों, व्यक्तियों के पारस्परिक सम्बन्धों का तो सूक्ष्म निरीक्षण नहीं ही प्राप्त होता, सामान्य ऐतिहासिक तथ्यों का निर्वाह भी नहीं लक्षित होता।"[31]

पश्चिम में उपन्यास को यथार्थवादी विधा के रूप में स्वीकार किया गया है। भारतीय साहित्य में भी कुछ प्रारम्भिक उपन्यासों को छोड़कर लगभग स्थिति समान है। उपन्यास विधा में अभिव्यक्त यथार्थ के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए रामदरश मिश्र लिखते हैं, "यथार्थ सतह पर फैली हुई जिन्दगी नहीं है बल्कि मानव-जीवन के बुनियादी प्रश्न, उसके अनेकानेक बाहरी-भीतरी स्वरूपों को बनाने वाली, बदलने वाली परिस्थितियाँ, समस्याएँ, आपसी संबंध और मानव-मन के भीतर के अनेक गहन रहस्यमय सत्य यथार्थ है। कहने का अर्थ यह है कि यथार्थ एक व्यापक और संश्लिष्ट वस्तु है जिसमें मानव-समाज के सामूहिक और व्यक्तिगत, बाहरी और भीतरी, परिस्थितिगत और मानसिक अन्धकारमय और प्रकाशमय सभी प्रकार के सत्य एक-दूसरे से मिले-जुले होते हैं।"[32] यथार्थ के स्वर में इतने सारे पहलुओं के बीच से निकलते हैं। जीवन के इन पहलुओं को उपन्यास में अभिव्यक्ति मिलती है। आधुनिक जीवन और सामाजिक सच्चाईयों को उपन्यासों में बखूबी व्यक्त किया है। यथार्थवादी उपन्यास अपने समय और समाज को छुए बिना नहीं लिखा जा सकता। यथार्थवाद ने इस विधा को भारतीय साहित्य की मुख्यधारा में स्थापित करने का सफल प्रयास किया है। निर्मल वर्मा ने यथार्थ और उपन्यास को परम्परा से हटते हुए, उसके संबंधों को नई दृष्टि से देखने का प्रयास किया है, "उपन्यास की अर्थवत्ता यथार्थ में नहीं उसे समेटने की प्रक्रिया उसके संघटन की अन्दरूनी चालक शक्ति में निहित है। तभी किसी विधा के भीतर एक विशिष्ट फार्म का अविर्भाव होता है, जो समेटने की हर लय, स्तर और स्पन्दन को अनुशासित करती है, ऐसे 'स्पेस' का उद्घाटन करती है, जहाँ अनुभव का औपन्यासिक जीवन शुरू होता है।"[33]

इस प्रकार भारतीय साहित्य में उपन्यास का अभिग्रहण परिस्थितिजन्य है, वह किसी की अनुकृति मात्र नहीं है। उपन्यास के उदय के समय भारतीय साहित्य और समाज मध्यकाल की रूढ़ियों का केंचुल छोड़ रहा था। नवजागरण का प्रभाव भारतीय मानस पर पड़ना प्रारम्भ हो गया था। धार्मिक और सामाजिक संस्कारों को विकृत स्वरूप से मुक्ति की आकांक्षा आम जनमानस के भीतर उठने लगी थी, लेकिन भारत गुलाम

था। ब्रिटिश सभ्यता और संस्कृति के सम्पर्क से पड़ने वाले प्रभाव, जिसने उपन्यास जैसी विधा के लिए प्रेरणा प्रदान किया, का उल्लेख करते हुए चन्द्रकान्त वांदिवडेकर ने लिखा है, "ब्रिटिश की सभ्यता और संस्कृति के सम्पर्क में आने पर भारतीय बौद्धिक वर्ग में जिस आधुनिक जीवन-दृष्टि का नवनिर्माण होने लगा उसमें इस धरती के मनुष्य को केद्र में रखकर उसके सुख-दुख की एवं विपत्ति की चिंता करने वाली इहलौकिक दृष्टि से अधिक प्रसारित हो गयी। विशाल और तकनीकी प्रगति के सुखमय विकास के फल चखने वाली मानवीय चेतना प्रारम्भ में अपूर्व उल्लासमयी और आशावादी थी और परिणामतः जीवन का चिंतन करते समय वैज्ञानिक प्रणाली में आस्था और बुद्धिवाद को सर्वोपरि महत्त्व देने लगी तो आश्चर्य नहीं। स्वभावतः परम्पराओं के प्रति विद्रोही या आलोचनात्मक दृष्टि, प्रयोगशीलता के प्रति आकर्षण, पुराचीन, विधियों, मूल्यों के प्रति संदेह और नकार, नवीनता की खोज, भावुकता का परित्याग और उग्र यथार्थ का सामना करने का बौद्धिक उत्साह प्रथम महायुद्ध के प्रारम्भ तक आधुनिक मानस के ये कुछ महत्त्वपूर्ण वैशिष्ट्य रहे।"[34] ये परिवर्तन, विद्रोह तथा नकार के स्वर भारतीय आस्थावादी समाज में अनायास नहीं आये। भारत में जिस तरह से एक भौतिकवादी समाज विकसित हुआ वह पश्चिमी सभ्यता और संस्कृति के सम्पर्क का ही परिणाम था। उपन्यास भौतिकवादी समाज की विधा है, वह समाज कहीं का भी हो सकता है। इसका स्वरूप पश्चिमी ज्ञान और जीवन से जरूर निकला हुआ है लेकिन इसकी क्षेत्रीय व्यापकता किसी एक क्षेत्र तक सीमित नहीं है, लेकिन यह स्वीकार करने में कोई संदेह नहीं होना चाहिए कि यह पश्चिम की एक आधुनिक विधा है। मीनाक्षी मुखर्जी ने लिखा है कि, "भारत में उपन्यास को एक उधार ली गयी विधा ब्रिटिश शासकों द्वारा 19वीं सदी में शुरू की गयी अंग्रेजी शिक्षा का परिणाम मानने की धारणा लम्बे समय तक नहीं लाई गई।... इसमें विभिन्न धारणाओं को विश्लेषित करते हुए उपन्यास की भारतीय तथा अन्य संस्कृतियों से उपार्जित बहुरंगी विरासत के जटिल प्रश्नों को संबोधित किया गया है। इसके तहत अन्य नियामकों की बहुलता भी ध्यानाकर्षक है जिनकी आंतरिक संरचना और सामंजस्य ने भारत में उपन्यास की साहित्यिक विधा के उदय की उलझी हुई प्रक्रिया को अंजाम दिया।"[35] एक तरफ मीनाक्षी मुखर्जी ने जहाँ उपन्यास को सीधे-सीधे पश्चिम से उपार्जित माना वहीं भारत के संदर्भ में निर्मल वर्मा ने इस पश्चिमी मॉडल से असहमति व्यक्त करते हुए लिखा है कि, "हमने अपने कथात्मक गद्य के लिए उपन्यास जैसी 'विधा' को चुना जो (पश्चिम के) नितांत भिन्न सांस्कृतिक अनुभव क्षेत्र में पनपी और विकसित हुई थी।... प्रेमचन्द से लेकर आधुनातन उपन्यासकारों ने कभी उपन्यास की विधा पर शंका प्रकट हीं की, अपने अनुभव के संदर्भ में पुनः परीक्षा तो दूर की बात।"[36] निर्मल वर्मा की शंका वाजिब है, क्योंकि आधुनिक साहित्य का बड़ा भाग उपन्यास है और भारतीय साहित्य की लोकप्रिय विधा के स्वरूप को परखने की कोशिश लगभग नहीं के बराबर हुई है। मैनेजर पाण्डेय ने इसे अपने हिसाब से देखने का प्रयत्न किया है कि भारतीय साहित्य में उपन्यास विधा का उदय कैसे हुआ। वे लिखते हैं कि "जब भारत में उपन्यास का उदय हो रहा था, तब देश गुलाम था। उस समय अंग्रेजी राज के अत्याचारों से भरे हुए असहय वर्तमान से मुक्ति की तलाश भारतीय जनता को थी और रचनाकारों को भी। रचनाकारों के सामने मुक्ति के दो मार्ग थे। एक अतीत या भविष्य के मायालोक में ले जाने वाला था। दूसरा था वर्तमान के यथार्थ के बोध और प्रतिरोध की ओर पहुँचने वाला। रोमांस के रचनाकार पहले मार्ग पर चल रहे थे।"[37] इस मत से अधिक सहमति निर्मल वर्मा से व्यक्त की जा सकती है। इस तरह का विभाजन कोई औचित्य नहीं है क्योंकि दोनों की विधागत् समानता एक है यानी एक ही बुनियाद से दोनों की उत्पत्ति हुई है।

भारतीय साहित्य में उपन्यास के अभिग्रहण का संदर्भ भारतीय नवजागरण से भी जुड़ा हुआ है। कोई भी बड़ा परिवर्तन, जिसका विस्तार क्षेत्र सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक हो, साहित्य को प्रभावित किये बिना नहीं रह सकता। इस क्रम में रामस्वरूप चतुर्वेदी से सहमति व्यक्त की जा सकती है। वे जिन जातीय संस्कृतियों की बात नवजागरण के संदर्भ में करते हैं उनका प्रभाव उपन्यास विधा पर भी पड़ा। वे नवजागरण के संदर्भ में लिखते हैं, "पुनर्जागरण दो जातीय संस्कृतियों की टकराहट से उत्पन्न रचनात्मक ऊर्जा है।... भारत के संदर्भ में पुनर्जागरण 19वीं सदी से आरम्भ माना जाता है। नयी योरोपीय वैज्ञानिक संस्कृति और पुरानी भारतीय धार्मिक संस्कृति की टकराहट के फलस्वरूप।"[38] इसका प्रत्यक्ष संबंध उपन्यास से नहीं बनता लेकिन भारत में या यूरोप में दोनों जगहों पर नवजागरण ने इस विधा को वैचारिक समर्थन जरूर प्रदान किया। भारतीय संबंध में इसका महत्त्व कुछ अधिक है। भारतीय साहित्य में जो महाकाव्य की आकांक्षा थी, उससे मुक्ति का मार्ग और आस्था तथा अन्धविश्वास को नकारने की प्रक्रिया का प्रारम्भ नवजागरण ने ही किया। उपन्यास की अन्तर्वस्तु चूँकि भारतीय है और विधा का ढाँचा हमने पश्चिम से ग्रहण किया इसलिए इस विधा में जिस अन्तर्वस्तु का प्रयोग किया गया वह भारतीय समाज का नवजागरण

से प्रभावित और इहलौकिक जीवन के यथार्थ का स्वरूप था।

भारतीय साहित्य में उपन्यास के स्वरूप के संदर्भ में ज्ञानचन्द्र जैन का मत है, "उपन्यास आधुनिक साहित्य की सबसे लचीली विधा है। आधुनिक काल में इसने वही महत्त्व प्राप्त कर लिया है जो प्राचीन काव्य में महाकाव्य को प्राप्त था। आधुनिक मानव के अन्तर्मन का चित्रण करने, उसकी आशा आकांक्षाओं को प्रतिबिम्बित करने, मानवीय चेतना का विस्तार करने तथा उसे गहरा बनाने, समाज में फैली रूढ़िवादिता तथा दकियानूसीपन के विरुद्ध संघर्ष करने का यह एक सशक्त माध्यम बना है।"[39] इस प्रकार भारतीय साहित्य में उपन्यास का अभिग्रहण आधुनिक काल में हुआ, जो पारंपरिक कथा लेखन की भारतीय परम्परा से अलग आधुनिक बोध से प्रेरित माध्यम है। पश्चिमी ढाँचे में भारतीय समाज और जीवन की अभिव्यक्ति को इसने साकार करने का प्रयास किया। जनसामान्य की दैनंदिन जीवनचर्या को पहली बार इतना बड़ा और व्यापक फलक मिला। साहित्य में अभी तक विधाओं की आवश्यकता के अनुरूप समाज का चयन होता था। जिसमें भारत का एक बड़ा तबका साहित्य में अछूता रह जाता था। उपन्यास ने समाज के सभी लोगों को एक धरातल पर एक साथ लाकर खड़ा कर दिया। इस प्रकार आधुनिक काल की लोकप्रिय विधा के रूप में उपन्यास का उदय हुआ है।

संदर्भ–

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 27
2. हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा, रामदरश मिश्र, पृ. 20
3. A History of Marathi Literature, Kusumawati Deshpande, M.V. Ragadhyaksha, p. 52
4. A History of Indian Literature, Volume-viii, S.K. Das, p. 210
5. A History of Marathi Literature, Kusumawati Deshpandey, M.V. Ragadhyaksha, p. 52A
6. A History of Indian Literature, Volume-viii, S.K. Das, p. 201
7. बाङ्ला साहित्य का इतिहास, सुकुमार सेन, पृ. 202
8. वही, पृ. 203
9. A History of Indian Literature, Volume-viii, S.K. Das, p. 210
10. A History of Urdu Literature, Ali Jawed Jaidi, p. 248
11. वही
12. A History of Indian Literature, Volume-viii, S.K. Das, p. 114
13. A History of Indian Literature, Volume-viii, S.K. Das, p. 201
14. तमिल साहित्य का इतिहास, मु. बरदराजन, पृ. 272
15. Early Novel in India, Minakshi Mukhargi/Namavar Singh, p. 12
16. अभिनव भारती के उपन्यास विशेषांक में आशुतोष कुमार द्वारा उद्धृत, एस.के. दास की टिप्पणी, पृ. 2
17. कसौटी पाँच, संपादक नन्द किशोर नवल, उपन्यास सम्बन्धी मधुरेश की टिप्पणी, पृ. 24
18. कसौटी पाँच, संपादक नन्द किशोर नवल, उपन्यास सम्बन्धी मधुरेश की टिप्पणी, पृ. 24
19. साहित्य : तत्त्व और आलोचना, नलिन विलोचन शर्मा, पृ. 109
20. कसौटी पाँच, संपादक नन्द किशोर नवल, उपन्यास सम्बन्धी रामचन्द्र तिवारी की टिप्पणी, पृ. 12
21. हिन्दी उपन्यास का इतिहास, गोपाल राय, पृ. 24
22. वही, पृ. 28
23. वही
24. राजवाड़े लेख संग्रह, संपादक चन्द्रकान्त वांदिवडेकर, पृ. 298
25. A History of Indian Literature, Volume-viii, S.K. Das, p. 213
26. बाङ्ला साहित्य का इतिहास, सुकुमार सेन, पृ. 208
27. हिन्दी का बृहद् इतिहास, खण्ड-बारह, संपादक निर्मला जैन, पृ. 64
28. A History of Indian Literature, Volume-viii, S.K. Das, p. 289
29. वही, पृ. 291
30. हिन्दी उपन्यास : एक अन्तर्यात्रा, रामदरश मिश्र, पृ. 22
31. वही, पृ. 22
32. वही, पृ. 29
33. शब्द और दृष्टि, निर्मल वर्मा, पृ. 69
34. आधुनिक हिन्दी उपन्यासः सृजन और आलोचना, चन्द्रकान्त वांदिवडेकर, पृ. 2
35. Early Novel in India, Minakshi Mukhargi/Namavar Singh, p. VIII
36. उत्तर औपनिवेशिकता के स्रोत और हिन्दी साहित्य के उपन्यास सम्बन्धी अध्याय में प्रणयकृष्ण द्वारा उद्धृत निर्मल वर्मा का मत, पृ. 197
37. अनभै सांचा, मैनेजर पाण्डेय, पृ. 147
38. हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृ. 79
39. प्रेमचन्द पूर्व हिन्दी उपन्यास, ज्ञानचन्द्र जैन, पृ. 8

द्वारा श्री मनोज राय,
टी-5, सन्त नगर, बुराड़ी, दिल्ली-110084

मुद्राराक्षस एक सार्वजनिक बुद्धिजीवी थे

राजकुमार कुम्भज

जाने-माने कवि एवं पत्रकार। समसामयिक एवं राजनीतिक लेखन में सक्रिय भागीदारी।

हिन्दी के मशहूर उपन्यासकार, कहानीकार, व्यंग्यकार, बाल-साहित्यकार, नाट्य लेखक और आलोचक मुद्राराक्षस का असली नाम सुभाषचंद्र आर्य था। मुद्राराक्षस सही मायनों में एक सार्वजनिक बुद्धिजीवी थे।

मुद्राराक्षस नामकरण की कहानी कुछ इस प्रकार की है। सन् साठ के दशक की बात है, डॉ. देवराज 'युगसाक्षी' नामक एक साहित्यिक पत्रिका निकालते थे, उन्हीं दिनों सच्चिदानंद हीरानंद वात्स्यायन 'अज्ञेय' के संपादन में 'तार सप्तक' प्रकाशित हुआ था, चूँकि सुभाषचंद्र आर्य 'युगसाक्षी' के लिए भी कुछ लिखते रहते थे, तब उन्होंने 'तार सप्तक' पर अपना एक सारगर्भित लेख तैयार करके डॉ. देवराज को 'युगसाक्षी' में प्रकाशनार्थ दिया, अपने इस लेख में सुभाषचंद्र आर्य ने यह साबित करने की कोशिश की कि 'अज्ञेय' ईमानदार नहीं हैं और उन्होंने विदेशी साहित्य से कुछ चीजें चुराई हैं।

सुभाषचंद्र आर्य के इस विवादास्पद लेख को पढ़कर डा. देवराज सोच में पड़ गए, उन्हें लगा कि 'तार सप्तक' को केन्द्र में रखकर लिखा गया ये लेख बेहद हंगामेदार साबित होगा, इसलिए इसे सुभाषचंद्र आर्य के नाम से छापना ठीक नहीं रहेगा, तब यह सोचा गया

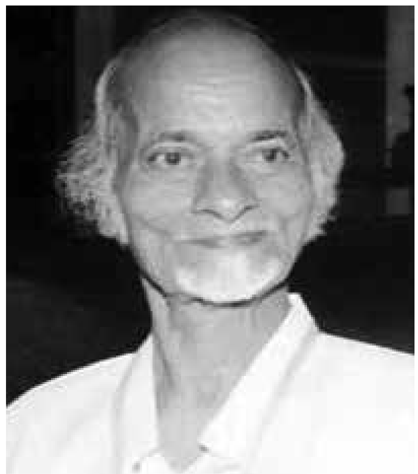

कि क्यों न इस समस्त सामग्री को लेखक का नाम बदलकर छाप दिया जाए? डॉ. देवराज ने सुभाषचंद्र आर्य के लिए 'मुद्राराक्षसद्ध नाम सुझाते हुए कहा कि 'देखो है तो यह राक्षसी नाम... तुम्हारे चेहरे मोहरे पर भी सूट करेगा और फिर ऐसा ही हुआ भी, तब 'तार सप्तक' के संदर्भ में लिखे गए उस एक लेख के साथ मुद्राराक्षस नामधारी एक लेखक का जन्म भी हो गया। इससे पहले तक मुद्राराक्षस का नाम सुभाषचंद्र आर्य ही प्रचलन में रहता आया था, किंतु नाम के इस बदलाव ने एक लेखक को सिरे से 'सार्वजनिक बुद्धिजीवी' भी बना दिया।

सुभाषचंद्र वर्मा उर्फ सुभाषचंद्र आर्य उर्फ मुद्राराक्षस की पहली कहानी 'सुबह, दुपहर, शाम' वर्ष 1953 में अमृतलाल नागर ने 'प्रसाद' पत्रिका में 'मुद्राराक्षस' नाम से छापी थी। कालान्तर में उनकी प्रसिद्धि इसी नाम से विस्तार पाती गई। अपने आलोचनात्मक किन्तु उग्र वैचारिक लेखन से उन्हें ध्वंसवाद का प्रतीक पुरुष कहा जाने लगा था। उन्होंने लगभग सभी धर्मों की विवेचना करते हुए हिन्दू धर्म को सर्वाधिक क्रूर और हिंसक साबित किया था। अपने एक साक्षात्कार में मुद्राराक्षस की एक स्वीकारोक्ति वाकई चौंकाने वाली थी, जिसमें उन्होंने कहा था कि "एक मध्यम कोटि के धर्मग्रन्थ की तुलना में एक अच्छी पोर्नोग्राफी ज्यादा रुचि के साथ पढ़ता हूँ।" दिल्ली स्थिति दलित साहित्य अकादमी द्वारा प्रेमचंद रचित उपन्यास 'रंगभूमि' के जलाए जाने के समर्थन में उन्होंने जो बयान दिया था, वह तो बेहद ही हैरानी भरा और हैरतअंगेज था। उक्त घटना के संदर्भ में मुद्राराक्षस ने तब कहा था कि 'रंगभूमि' का जैसा विरोध किया जा रहा है, वह उससे कहीं ज्यादा बड़े पैमाने पर किया जाना चाहिए, किन्तु आजीवन आत्महंता बने रहने वाले मुद्राराक्षस, साहित्य के भद्र वर्ग को ठेंगा दिखाते हुए हमेशा ही खुद्दार बने रहे।

अन्यथा नहीं है कि साहित्य के संसार में अक्सर ही असहमतियां बनी रहती हैं, लेकिन राजनीति के क्षेत्र में असहमतियों के लिए जरा सी भी जगह नहीं मिलती है, जबकि वहाँ कुटिलताओं के लिए समूचा मैदान खुला दिखाई देता है। प्रसंगवश कहा जा सकता है कि बाबा साहेब आंबेडकर और विश्वनाथ प्रताप सिंह के परम अनुयायी बने रहने के बावजूद मुद्राराक्षस को दलित व

पिछड़ी कही जाने वाली कथित पार्टियों में कहीं, कोई जगह कभी भी नहीं मिल सकी। उन्होंने जिस भी शिद्दत से राजनीति में आना चाहा, वे उतनी ही तेज रफ्तार से निरंतर नीचे की ओर लुढ़काए जाते रहे और अंततः अकेले पड़ते गए। मुद्राराक्षस की चेतना में वैचारिक उष्मा तो थी, लेकिन राजनीतिक कौशल बिल्कुल भी नहीं था। यहीं यह भी याद रखा जा सकता है कि राजनीतिक समझ और राजनीतिक कौशल में पर्याप्त अंतर होता है। जाहिर है कि मुँहफट, मुँहजोर और धाराप्रवाह बेलाग बोलने वाले मुद्राराक्षस के पास एक गहन गंभीर राजनीतिक समझ तो कूट-कूट कर थी, परंतु राजनीतिक सेंधमारी की चीख-पुकार लेशमात्र भी नहीं थी जिसने मुद्राराक्षस की लेखकीय ऊर्जा और उग्रता को क्षरित ही किया। लिहाजा उनका सम्पूर्ण राजनीतिक जीवन विकलता, विफलता और व्यग्रता का 'बहुरूपिया फ्रीलांस नाट्य' बना रहा।

मुद्राराक्षस नाट्य लेखन से लेकर अभिनय प्रस्तुति तक में इस हद तक डूबे रहते थे कि उन्हें ससम्मान 'रंग पुरुष' कहा जाने लगा था। शायद आज बहुत कम लोगों को ज्ञात होगा कि मुद्राराक्षस कविताएँ भी लिखते थे। साठोत्तरी दौर के अकविता आंदोलन में मुद्राराक्षस की सक्रिय-उपस्थिति साफ-साफ देखी जा सकती है। अपने दिल्ली जीवन काल में कमलेश्वर राष्ट्रीय सहारा से इस्तीफा देकर 'गंगा' पत्रिका का प्रकाशन प्रारंभ कर चुके थे। कमलेश्वर ने तब मुद्राराक्षस का जो एक लेख छापा था उसका शीर्षक था 'आज की कविता एक सहज सुलभ शौचालय हो गई है' उक्त लेखक को कुछेक तत्कालीन कवियों ने अतिरंजित और अपाठ्य करार देने की असफल कोशिशें भी की थीं, किंतु मुद्राराक्षस अपनी कथनी की जिद पर मुस्तैदी से कायम-मुकाम बने रहे।

गरीबी और शोषण से जकड़ी हमारी सोच का एक किस्सा अक्सर ही सुनाया करते थे। वह क्योंकि एक बार एक दलित बच्चा अपने किसी रिश्तेदार के साथ महानगर गया। वहाँ से रिश्तेदार ने एक बहुमंजिला इमारत दिखाते हुए पूछा कि अगर तुम्हें इतना बड़ा घर दे दें तो क्या करोगे? एक मिनट खामोश रहने के बाद दलित बच्चा बोला—"झाड़ू लगेबो और पोछा करेबो"।

सुभाषचंद्र आर्य उर्फ मुद्राराक्षस का जन्म 21 जून 1933 को बेहटा, लखनऊ (उत्तर प्रदेश) में हुआ था, उनकी प्रमुख रचनाओं में आला अफसर कालातीत, नाटकीय, दंड-विधान और हस्तक्षेप शामिल हैं, उनकी शिक्षा-दीक्षा लखनऊ में ही सम्पन्न हुई थी। उन्होंने 'अनुवार्ता' नामक पत्रिका का संपादन किया था, किन्तु इससे पहले वर्ष 1950 के दशक में वे कोलकाता से प्रकाशित होने वाली प्रख्यात साहित्यिक पत्रिका 'ज्ञानोदय' का संपादन कर चुके थे, इस तरह से मुद्राराक्षस की लेखकीय जीवन यात्रा का प्रारंभ कोलकाता से ही हुआ था, वे जीवनपर्यंत तेज और तुर्श लेखन के प्रति ईमानदार बने रहें, उनकी लिखी कहाँनियाँ, उनकी इसी ईमानदारी का प्रमाण प्रस्तुत करती है, कोलकाता से लखनऊ लौटने के बाद उनका अच्छा खासा ध्यान नाटक की ओर मुड़ गया, इस दौर में उन्होंने कई नाटक लिखे, उन्होंने अपने लेखन में दलितों और स्त्रियों के मुद्दों को जोर-शोर से उठाया।'

मुद्राराक्षस संपूर्ण स्वतंत्रता से बोलने और लिखने में विश्वास करने वाले 'योद्धा' थे, उन्होंने लेखन में अथवा लेखन के साथ कभी कोई समझौता अथवा दुराव-छुपाव नहीं किया। उनके लिखे से कई-कई मर्तबा 'असहजता' पैदा हो जाती थी, किंतु वे उसकी परवाह नहीं करते थे, अपने समझौता-रहित असहजतापूर्ण लेखन के कारण ही, उनके समकालीनों की तरह, उनके पास पुरस्कारों की जमावट नहीं थीं। वे एक साथ कई विधाओं में सक्रिय थे, यही नहीं, वे छोटे-छोटे आन्दोलनों में भी बढ़-चढ़कर हिस्सा लेते थे। इस तरह से वे एक बड़े 'ऐक्टिविस्ट' भी स्वीकार किए गए।

मुद्राराक्षस ने अपने लेखन में कभी किसी परंपरा और शैली का अनुगमन या अनुसरण नहीं किया। उनका संपूर्ण लेखन गैर-पारंपरिक, नया, अनोखा और अपनी तरह से वाकई अनूठा है, उन्होंने देश और समाज के ज्वलंत मुद्दों पर सीधा हस्तक्षेप किया, फिर चाहे वह मुद्दा उग्र-हिदुत्व का ही क्यों न हो? उनकी लेखनी दलित-प्रश्नों और स्त्री-प्रश्नों के विमर्श पर बेहद ही साफगोई से चलती थी। वे जितनी वैचारिक-स्पष्टता से बोलते थे, ठीक उतनी ही स्पष्टता से लिखते भी थे। मुद्राराक्षस ने दस से ज्यादा नाटक, बारह उपन्यास, पाँची कहानी संग्रह, तीन व्यंग्य संग्रह और इतिहास तथा आलोचना संबंधित क्रमशः तीन और पाँच पुस्तकें लिखी हैं। हिन्दी लेखन के क्षेत्र में ऐसे लेखक कम ही हुए हैं, जिन्होंने रचनात्मक साहित्य और रंगमंच के लिए बराबर का योगदान दिया हो। मुद्राराक्षस ऐसे ही व्यक्तियों में से एक थे।

उन्होंने न सिर्फ दस से ज्यादा नाटक लिखे, बल्कि बीस से ज्यादा नाटकों का निर्देशन भी किया। उनके लिखे तीन नाटक रामलीला, हरिश्चंद्र की लड़ाई और आला अुसर तो बेहद ही प्रसिद्ध थे। आला अफसर नाटक को मुद्राराक्षस का एक बेहतरीन नाटक कहा गया है। उनके इन तीन नाटकों की प्रसिद्धि का आलम यही था कि उनसे लखनऊ के लिए लखनऊ की पहचान होती थी और आज भी होती है। उनके जैसा हिन्दी लेखक हमारे बीच कोई दूसरा नहीं है। मुद्राराक्षस हिन्दी समकालीनता के अद्वितीय लेखक थे। उन्होंने सामाजिक सरोकारों को लेकर

सामाजिक विसंगतियों की आवाज को अपने लेखन की खास आवाज बना देने का अभूर्तपूर्व काम किया था।

उनकी पुस्तकों का कई देशों में अंग्रेजी सहित दूसरी भाषाओं में भी अनुवाद हुआ है। पंद्रह बरस से भी ज्यादा समय तक वे आकाशवाणी में 'पटकथा संपादक' और 'नाटक निर्माण प्रशिक्षण' के मुख्य प्रशिक्षक भी रहे थे। साहित्य लेखन और रंगमंच के अलावा समाज और सियासत में भी उनकी उपस्थिति बराबर बनी रहती थी। उनकी निष्ठावान-प्रतिबद्धता का प्रमाण इसी खास बात से मिल जाता है कि वे छोटे-बड़े सामाजिक आंदोलनों में सक्रियता से जुड़े रहते थे। लेखकीय सक्रियता के साथ सामाजिक आंदोलनों में भी उतनी ही जिम्मेदारी से अपनी उपस्थिति दर्ज करवाना उनकी विशेषता थी। उन्होंने 'नई सदी की पहचान—श्रेष्ठ दलित कहानियां' का संपादन किया था। उन्हें संगीत नाटक अकादमी पुरस्कार मिला था।

संवेदनशील और ज्वलंत सामाजिक मुद्दों सहित स्त्री और दलित विमर्श के लिए हमेशा अग्रणी रहने वाले मुद्राराक्षस दुबले-पतले, कृशकाय तथा मिचमिचाती आँखों के मालिक थे। वे जब भी कुछ बोलते थे, तब अक्सर ही उनकी आँखें अपने मूल आकार से कुछ बड़ी हो जाती थीं। मगर उनका व्यक्तित्व इतना अधिक प्रभावशाली था कि उनके समक्ष अच्छे-अच्छे वाचालों की बोलती बंद हो जाती थी। मुद्राराक्षस सिर्फ लिखने के लिए ही नहीं लिखते थे। उनका लिखा अंगारे बिखेरता था। उनके द्वारा उठाए गए प्रश्न इतने अधिक तीक्ष्ण होते थे कि जिनसे प्रतिक्रियावादियों का लहूलुहान होना सुनिश्चित हो जाता था। उनके लिखे से उनके प्रतिद्वंद्वी न सिर्फ बेबस दिखाई देते थे, बल्कि उन्हें मिर्ची भी लग जाती थी। इसी 13 जून को लंबी बीमारी के बाद मुद्राराक्षस का लखनऊ में ही निधन हो गया। उनके परिवार में उनकी पत्नी इंद्रा मुद्राराक्षस और दो पुत्र रोमी मुद्राराक्षस व रोमेंद्र मुद्राराक्षस हैं। कैसा संयोग है कि जून माह में जन्म लेने वाले मुद्राराक्षस का निधन भी जून माह में ही हुआ? (जन्म 21 जून 1933–निधन 13 जून 2016)। वे 83 बरस के युवा लेखक थे; क्योंकि जब वे किसी भी साहित्यिक कार्यक्रम में अपने तेज गति कदमों से प्रवेश करते थे, तो चारों तरफ से एक गर्म हवा-सा कुछ तन जाता था। उनकी फ्रैंचकट दाढ़ी, उनके दुबले-पतले, छोटे कद-काठी व्यक्तित्व की पुख्ता पहचान थी।

वे युवा रचनाकारों की लेखन-शैली को निशाना बना कर अकसर ही यह टिप्पणी किया करते थे कि आज के युवा रचनाकार लिख तो खूब रहे हैं, लेकिन उनका लेखन स्तरीय नहीं है। इन दिनों जो भी और जैसा भी लिखा जा रहा है वह सब फेसबुक तथा अन्य सोशल साइटस माध्यमों के लिए ही लिखा जा रहा है। इस सबसे हम न तो अपना साहित्य ही सुदृढ़ कर सकते हैं और न ही अपने साहित्य का भविष्य ही संरक्षित कर सकते हैं। मुद्राराक्षस कुछ ऐसे ही निर्भय, निर्मल, बेबाक लेखक थे। उनका लिखा हमेशा ही चर्चा और विवाद का विषय बन जाता था; क्योंकि वे साफ और सच बोलते-लिखते थे। एक तरफ अगर वे युवा रचनाकारों की रचनाधर्मिता को प्रश्नांकित करने से जरा भी हिचकते नहीं थे, तो दूसरी तरफ अपने समकालीन लेखकों की सृजनशीलता को भी कटघरे में खड़ा कर देने से चूकते नहीं थे। यह दीगर बात है कि उनकी तेजतर्रार बातें कभी-कभी कार्यक्रमों में शामिल होने वाले अतिथि लेखकों को भीतर तक झकझोरते हुए चुभ जाती थी।

गौर कीजिए जब वे कहते थे कि हम दो घंटे के कार्यक्रम में हिन्दी साहित्य, हिन्दी भाषा और हिन्दी विस्तार की बातें तो खूब बढ़-चढ़कर करते हैं, यहाँ तक कि हिन्दी को अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर स्थापित करने की भी बात करते हैं। यहाँ तक कि अंग्रेजी के सामने हिन्दी को प्राथमिक-सम्मान तथा तरजीह देने की भी बात करते हैं, लेकिन हिन्दी कार्यक्रम समाप्त होते ही हम फिर से पाश्चात्य संस्कृति की चमक में बिखर जाते हैं... पेज थ्री की रंगीन मिजाज पार्टियों में खो जाते हैं। मुद्राराक्षस इस तरह कुछ गलत तो नहीं कहते थे? मुद्राराक्षस की स्मृति को प्रणाम करते हुए, उन्हीं के शब्दों में उन्हीं का सवाल एक बार फिर पूछा जा सकता है कि हम अपने आचरण के अभिशप्त किस मुँह से हिन्दी भाषा और हिन्दी साहित्य के संरक्षण व विस्तार की बात कर सकते हैं? सच है कि मुद्राराक्षस सही मायनों में एक सार्वजनिक बुद्धिजीवी थे।

331, जवाहर मार्ग, इन्दौर-452002
(मध्य प्रदेश)

डॉ. नामवर सिंह की आलोचना दृष्टि

डॉ. जंग बहादुर पाण्डेय

डॉ. जंग बहादुर पांडेय हिन्दी एवं संस्कृत से एम.ए. हैं। एल.एल.बी. एवं पीएच.डी. की डिग्री रांची (झारखण्ड) विश्वविद्यालय से प्राप्त की है। देश की विभिन्न प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में लेखन कार्य।

मार्क्सवादी आलोचक के रूप में डॉ. नामवर सिंह का नाम आधुनिक युग में सम्मानपूर्वक लिया जाता है। प्रगतिवाद और मार्क्सवाद के प्रति उनकी आस्था निर्विवाद रूप से घोषित है।

डॉ. नामवर सिंह का जन्म वाराणसी जिले के जीयनपुर नामक गाँव में 01 मई, 1927 को हुआ। उनकी संपूर्ण शिक्षा वाराणसी में हुई। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से 1951 में हिन्दी में एम.ए. और 19... में वहीं से पी-एच.डी. की उपाधि प्राप्ति की। फिर बी.एच.यू. में 1959 तक अध्यापन किया। 4 वर्षों तक जोधपुर विश्वविद्यालय में हिन्दी के प्रोफेसर एवं अध्यक्ष रहे। अल्पकाल के लिए क.मु. हिन्दी विद्यापीठ, आगरा के निदेशक रहे। 1974 में जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली के हिन्दी के प्रोफेसर एवं अध्यक्ष बने तथा सेवानिवृत्ति तक उस पद पर बने रहे। दो वर्षों तक साप्ताहिक जनयुग का और 1967 से 1990 तक आलोचना के संपादक रहे।

आलोचक के रूप में किसी वाद के घेरे में उन्हें बाँधना बहुत समीचीन नहीं प्रतीत होता। क्योंकि उनका आलोचक व्यक्तित्व उससे कहीं अधिक विस्तृत

एवं व्यापक है। वस्तुतः यह सही है कि वे साहित्य की मार्क्सवादी दृष्टि से प्रभावित हैं और इसके मूल्यांकन के लिए इस दृष्टिकोण की सार्थकता और उपयोगिता को भी स्वीकारते हैं। फिर भी वे आधुनिक हिन्दी आलोचना जगत में आचार्य शुक्ल और आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की विरासत और परम्परा को आत्मसात कर अवतरित हुए हैं। यही कारण है कि पर्याप्त स्वाभाविक रीति से आचार्य शुक्ल जैसी गंभीरता, विवेचना शक्ति तथा प्रखरता के साथ आचार्य द्विवेदी की प्रगतिशीलता, व्यापकता और व्यंग्य विनोदपूर्णता का मेल डॉ. नामवर सिंह के आलोचनात्मक विचारों में दृष्टिगोचर होता है। उनकी प्रमुख प्रकाशित कृतियाँ निम्नांकित हैं–

1. बकलम खुद-1951, 2. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग-1952, 3. छायावाद-1955, 4. इतिहास और आलोचना-1957, 5. आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियाँ-1962, 6. कहानी नई कहानी-1965, 7. कविता के नए प्रतिमान-1968, 8. पृथ्वीराज की भाषा-1968, 9. दूसरी परम्परा की खोज-1982, 10. वादः विवाद संवाद-1989।

इन समीक्षात्मक और आलोचनात्मक पुस्तकों में अधिकांश निबंध स्पष्टत: प्रगतिवादी समीक्षा, दर्शन तथा सौन्दर्यशास्त्र के महत्वपूर्ण आयामों के विवेचन से संबंधित हैं। परन्तु इनमें अनेकानेक निबंध ऐसे भी हैं, जिनमें एक तटस्थ, गंभीर, आलोचक, समीक्षक, विचारक, अध्येता और व्याख्याता के रूप में अपनी स्पष्ट छाप पाठकों पर छोड़ते हैं। नई कहानी और नई कविता जैसे समकालीन विषयों पर जिस अधिकारिक रूप में उन्होंने अपनी स्थापनाएँ प्रस्तुत की हैं, उसी दक्षता के साथ डॉ. सिंह ने प्रयोगवादी साहित्य धारा की अत्यन्त तर्कसंगत एवं प्रखर समीक्षा भी की है। अपनी सुचिंतित स्थापनाओं के अनुसार अधिकारपूर्वक दो टूक निर्णय प्रस्तुत करते हैं, तो उनके गुरु गंभीर व्यक्तित्व में आचार्य शुक्ल एवं आचार्य द्विवेदी की छाया दृष्टिगोचर होती है।

'कलात्मक सौन्दर्य के आधार' शीर्षक निबंध के श्रेष्ठ साहित्य की व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा है–"श्रेष्ठ साहित्य मन का लड्डू नहीं है। जब जी चाहा बना लिया। श्रेष्ठ तो श्रेष्ठ, साहित्य मात्र किसी की स्वेच्छा पर निर्भर नहीं है। जब जैसा जी में हुआ, वैसा साहित्य कोई नहीं रच सकता। वह एक निश्चित परिस्थिति में और निश्चित परिस्थिति से पैदा होता है

और यह परिस्थिति उसकी स्वेच्छा को मर्यादित करती है। यहाँ तक कि उसके विद्रोह को भी। परिस्थिति के विरुद्ध लेखक का विद्रोह भी उस परिस्थिति के द्वारा निर्धारित होता है। यह लेखक की ऐतिहासिक सीमा है, मन के लड्डू खाने की अपेक्षा, अपनी ऐतिहासिक सीमा को समझने और समझकर बदलने की कोशिश करने में कहीं अधिक स्वाद है।

साहित्य और समाज–डॉ. नामवर सिंह, साहित्य सृजन में साहित्यकार के व्यक्तित्व को कम महत्त्व नहीं देते। किंतु मार्क्सवाद साहित्य सिद्धांतों से सहमति व्यक्त करते हुए व्यक्तित्व को साहित्य और समाज के बीच की कड़ी के रूप में स्वीकारते हैं, "मार्क्सवादी समीक्षा और उसकी कम्युनिस्ट परिणति के अनुसार समाज और साहित्य के बीच की महत्त्वपूर्ण कड़ी है लेखक का व्यक्तित्व।" साहित्य के रूप में समाज की जो छाया प्रकट होती है वह लेखक के व्यक्तित्व के ही माध्यम से आती है। साहित्य रचना की प्रक्रिया समाज-लेखक और साहित्य परस्पर एक दूसरे को इस तरह प्रभावित करते हैं कि इनमें से प्रत्येक क्रमशः परिवर्तित और विकसित होता रहता है–समाज से लेखक, लेखक से साहित्य और साहित्य से पुनः समाज।

डॉ. नामवर सिंह की स्थापना यह है कि समाज का ज्यों का त्यों चित्रण करने का दावा थोथा है। क्योंकि व्यक्ति की विशेषता के अनुसार सत्य का रूपांतरण स्वाभाविक है। उनके शब्दों में–समाज से साहित्य का संबंध कुछ-कुछ वही है जो धरती से फूल का है। फूल धरती से उत्पन्न होता है, इसका मतलब यह नहीं है कि उसके डाल-पात, पँखुड़ी, वर्ण, गंध, आदि मिट्टी के हैं कि उससे मिट्टी की सी ही सौंधी गंध आती है और रंग भी मटमैला होता है। धरती का रूप, रस फूल में नया वर्ण, गंध उत्पन्न करता है। इसी तरह साहित्य में भी समाज ज्यों का त्यों नहीं झलकता बल्कि रूपांतरित रूप में अंतर्निहित रहता है।" इतिहास का नया दृष्टिकोण, पृ. 134।

इसी निबंध में मनुष्य और मनुष्यता को साहित्य की सामाजिकता का आधार बतलाते हुए उन्होंने लिखा है–"समाज में साहित्य का स्रोत खोजने का मतलब है, मनुष्य के मूर्त पारस्परिक संबंधों में उसकी जड़ें खोजना। मनुष्य ही साहित्य का रचयिता भी है और वर्ण-वस्तु भी।

साहित्य में समाज की छाया किस तरह पड़ती है, इसका रहस्य जान लेने पर साहित्यिक समीक्षा के मानदण्ड बदल जाते हैं। उदाहरण के लिए तुलसी की विनयपत्रिका किसी के लिए दैन्य-भाव पूर्ण भक्तिपरक रचना हो सकती है, जिसकी वर्तमान संदर्भों में प्रासंगिकता संदिग्ध मानी जाएगी। किन्तु यह दृष्टि उचित नहीं है कि इसके द्वारा न तो तुलसी के व्यक्तित्व को समझा जा सकता है और न ही उनकी भावप्रवणता के साथ न्याय किया जा सकता है। इसलिए किसी रचनाकार के मूल्यांकन का आधार यही हो सकता है कि उसने अपनी रचनाओं में अपने समाज को किस रूप में और किस सीमा तक अभिव्यक्त किया है।

आधुनिक युग में जीवन के मूल्य बड़ी तेजी से बदल रहे हैं। जीवन पहले जैसा सरल और सीधा नहीं रह गया है किन्तु इस कारण रचनाकार जीवन से विमुख नहीं हो सकता। उसके उलझी हुई जटिल जिंदगी के संबंध सूत्रों को समझने तथा उसे सुलझाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभानी होगी।

हिन्दी समीक्षा में डॉ. नामवर सिंह का महत्त्व इस दृष्टि से भी है कि उन्होंने सिद्धांत विवेचन की परंपरागत काव्यशास्त्रीय पद्धति से हटकर प्रासंगिक रूप में, विविध सिद्धांतों का संदर्भ ग्रहण करते हुए, अपने विचारों की अभिव्यक्ति की है। वे स्वयं काव्यशास्त्री या आचार्य होने का दावा नहीं करते किन्तु उच्च कोटि के निर्णयात्मक समीक्षक या आचार्य के रूप में विभिन्न विषयों पर दो टूक सम्मति प्रकट करते हैं। उनके समीक्षक व्यक्तित्व को गरिमामंडित करने वाली कुछ ऐसी विशिष्टताएँ हैं, जिनके कारण वे आधुनिक हिन्दी समीक्षा के शीर्षपुरुष माने जा सकते हैं।

1. **अनुसंधान की दृष्टि**–डॉ. नामवर सिंह मूलतः एक अनुसंधाता आलोचक हैं। अनुसंधान की वैज्ञानिक एवं योजनाबद्ध प्रक्रिया को अपनाते हुए तथा प्राप्त तथ्यों का सूक्ष्मतम विश्लेषण करते हुए, नई स्थापनाएँ प्रस्तुत करने में उनकी सहज प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है।

2. **अपभ्रंश साहित्य की समीक्षा**–उनकी दूसरी उल्लेखनीय विशेषता यह है कि उन्होंने ऐसे प्राचीन साहित्य को अध्ययन के लिए चुना, जिस पर हिन्दी में बहुत कम काम हुआ है। कहने की आवश्यकता नहीं कि हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योगदान उनकी ऐसी ही आलोचनात्मक कृति है। जिससे हिन्दी भाषा और साहित्य की प्रवृत्तियों के विकास को समझने की दिशा में उल्लेखनीय सहायता प्राप्त हुई है। यह अपनी तरह की अकेली पुस्तक है जो उनके आलोचक व्यक्तित्व की गंभीरता अधिकारिता, प्रामाणिकता तथा अंतर्दृष्टि को प्रमाणित करती है।

3. **प्रगतिवादी दृष्टि**–वे प्रख्यात प्रगतिवादी एवं मार्क्सवादी विचारक हैं। भक्तिकाल के साहित्य का उन्होंने जो विश्लेषण किया है, उसमें उनकी प्रगतिवादी दृष्टि की उपयोगिता स्पष्ट दिखाई पड़ती है। डॉ. नामवर सिंह ने आचार्य शुक्ल

के मत का तर्कपूर्ण खंडन करते हुए सिद्ध किया कि भक्तिकाल का समृद्ध साहित्य हताश जाति की प्रक्रिया नहीं है, अपितु एक सहज विकास के रूप में प्रस्तुत हुआ है। इसी प्रकार वीर गाथा, साहित्य के संबंध में भी उनकी दृष्टि की प्रगतिशीलता उल्लेखनीय है। वीरत्व की सर्वथा नवीन व्याख्या करके उन्होंने वीरगाथाकाल के साहित्य को देखने और परखने की नई दृष्टि प्रदान की है। रीतिकालीन साहित्य के अध्ययन में भी उनकी यही दृष्टि अनेक मौलिक स्थापनाओं का कारक बनती है।

4. **अधुनातन सिद्धांतों का अनुशीलन**– डॉ. नामवर सिंह की एक अन्य महत्त्वपूर्ण उपलब्धि यह है कि उन्होंने विश्व के अनेकानेक अधुनातन, साहित्य सिद्धांतों से हिन्दी जगत का परिचय कराया है। रूस, अमेरिका, इंग्लैण्ड और फ्रांस आदि देशों में समीक्षा के क्षेत्र में जो नवीन चिंतन हो रहा है, उसका आलोचनात्मक रूप आलोचना के संपादक के रूप में प्रस्तुत किया है।

5. **समाजशास्त्रीय विचारों का आधार**– समाजशास्त्र, मनोविज्ञान तथा मानवशास्त्र आदि के क्षेत्रों में पाश्चात्य देशों में जो नया चिंतन हुआ है, डॉ. नामवर सिंह ने हिन्दी आलोचना को उससे भी परिचित कराया है।

6. **विवेचन पद्धति की मौलिकता**– डॉ. नामवर सिंह की सबसे बड़ी विशिष्टता उनकी विवेचन पद्धति की मौलिकता है। जिस अधिकार के साथ तर्कसंगत एवं प्रामाणिक आधार पर दृढ़ता के साथ वे नई स्थापनाएँ प्रस्तुत करते हैं। जिस ओज के साथ वे खंडन-मंडन में प्रवृत्त होते हैं। विवेचना पद्धति की ऐसी मौलिकता आचार्य शुक्ल एवं आचार्य द्विवेदी के बाद संभवतः उन्हीं की आलोचनात्मक कृतियों में दिखलाई पड़ती है।

अपनी उपर्युक्त विशिष्ट उपलब्धियों के कारण डॉ. नामवर सिंह आधुनिक हिन्दी आलोचना में एक विशिष्ट स्थान के अधिकारी सहर्ष माने जा सकते हैं। हिन्दी आलोचना को उनसे अभी बड़ी-बड़ी अपेक्षाएँ हैं।

तपोवन, लक्ष्मीनगर, पिस्का मोड़,
रातू रोड, रांची-834005 (झारखण्ड)

भारतीय सांस्कृतिक सम्बंध परिषद्

लेखकों से निवेदन

हमें अपने पाठकों को यह बताते हुए हर्ष हो रहा है कि भारतीय सांस्कृतिक सम्बंध परिषद् द्वारा विश्व हिन्दी दिवस के अवसर पर हिन्दी द्विमासिक पत्रिका 'गगनांचल' का वर्ष 40 अंक 1 (जनवरी-फरवरी), 2017 अंक विश्व हिन्दी दिवस विशेषांक के रुप में प्रकाशित करने का निर्णय लिया गया है ।

पत्रिका के सभी सुधी पाठकों और रचनाकारों के उक्त विषय से संबंधित मौलिक और अप्रकाशित लेख, कहानी, कविताएं आमंत्रित है । विश्व हिन्दी दिवस विशेषांक के लिए अपनी रचनाएं दिनांक 20 जनवरी, 2017 तक अवश्य भेजें । रचना के साथ उससे संबंधित चित्र भी अवश्य भिजवाएं। रचना भेजते समय इस बात का भी ध्यान रखें कि वह पत्रिका के स्तर व गरिमा के अनुरूप हो।

कृपया अपने लेख एवं सुझाव निम्नलिखित पते पर भिजवाएं :

संपादक, गगनांचल, भारतीय सांस्कृतिक सम्बंध परिषद्
एवं
कार्यक्रम अधिकारी (हिन्दी), भारतीय सांस्कृतिक सम्बंध परिषद्,
आज़ाद भवन, इन्द्रप्रस्थ एस्टेट, नई दिल्ली-110002, भारत
फोन नं. 011-23379309, 23379310, 23370237
ई-मेल - ddgnkoffice.iccr@gov.in व pohindi.iccr@nic.in

कौन कहे? यह प्रेम हृदय की बहुत बड़ी उलझन है

डॉ. पुनीत बिसारिया

लेखक नेहरू पीजी कॉलेज, ललितपुर, उत्तर प्रदेश में वरिष्ठ अध्यापक हैं। अध्यापन के साथ-साथ लेखन।

उर्वशी पढ़ते-पढ़ते जब मैंने यह पंक्ति पढ़ी कि 'उर्वशी अपने समय का सूर्य हूँ मैं' तब एकदम ऐसा लगा कि दिनकर ने पुरुरवा के मुख से जो यह पंक्ति कहलाई है, वह पुरुरवा पर चाहे लागू हो या न होती हो, दिनकर पर लागू होती है और 'समय' का अर्थ यहाँ अखिल समय मानना चाहिए। दिनकर अपने देश के ही नहीं, अपने समय के सूर्य कवि थे। यह तो हमारा दुर्भाग्य है कि हमारी भाषा एक अभिशप्त भाषा है। इसमें लिखने वाला अंतरराष्ट्रीय कदाचित ही हो पाएगा... हिन्दी का हर पाठक अपने मन में जानता है कि अगर दिनकर ठीक अनुवादित होकर देश-विदेश में पेश किए जाते हो पिछले पचास साल में उत्पन्न किसी भी विश्व कवि कहे जाने वाले कवि के मुकाबले में ऐसे छोटे तो न पड़ते।"[1]

उपर्युक्त पंक्तियाँ दिनकर के समकालीन कवि भवानीप्रसाद मिश्र की हैं। यदि एक समकालीन कवि उनके विषय में इतनी बड़ी प्रशंसा कर रहा है तो यह अनौचित्यपरक हो भी नहीं सकती। उर्वशी वास्तव में कामायानी का एक्सटेंशन है। कामायनी के नामकरण को काम से जोड़ने के बावजूद प्रसाद 'काम मंगल से मंडित श्रेय, सर्ग इच्छा का है परिणाम' कहकर जिसे अधूरा छोड़ देते हैं, उसे दिनकर उर्वशी में पूर्णता प्रदान करते हैं। उर्वशी की भूमिका में वे स्वयं कहते हैं, "मनु और इड़ा का आख्यान तर्क, मस्तिष्क, विज्ञान और जीवन की सोद्देश्य साधना का आख्यान है, वह पुरुषार्थ के अर्थ पक्ष को महत्त्व देता है, किन्तु पुरुरवा-उर्वशी का आख्यान भावना, हृदय, कला और निरुद्देश्य आनंद की महिमा का आख्यान है; वह पुरुषार्थ के काम पक्ष का माहात्म्य बताता है।"[2]

उनके यहाँ "उर्वशी चक्षु, रसना, घ्राण, त्वक् तथा श्रोत्र की कामनाओं का प्रतीक है; पुरुरवा रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द से मिलने वाले सुखों से उद्वेलित मनुष्य।"[3] कामायानी में काम संयमित है जबकि उर्वशी में यह निस्सीम है। कामायनी में आदर्श की प्रतिष्ठा है इसलिए सुखान्त के साथ कथा निष्पत्ति को प्राप्त होती है किन्तु उर्वशी में काम के सूक्ष्म मनोभावों का आकलन करके कवि निष्कर्ष निकालता है, "नारी नर को छूकर तृप्त नहीं होती, न नर नारी के आलिंगन में संतोष मानता है, कोई शक्ति है, जो नारी को नर तथा नर को नारी से अलग रहने नहीं देती, और जब वे मिल जाते हैं तब भी, उनके भीतर किसी ऐसी तृषा का संचार करती है, जिसकी तृप्ति शरीर के धरातल पर अनुपलब्ध है।"[4]

उर्वशी का 'कामाध्यात्म' से 'अध्यात्म' जुड़ता तो है किन्तु 'शारीरिक धरातल' के रास्ते से, कवि स्वयं कहता और स्वीकारता है, "जीवन में सूक्ष्म आनन्द और निरुद्देश्य सुख के जितने भी सोते हैं, वे कहीं-न-कहीं काम के पर्वत से फूटते हैं। जिसका काम कुंठित, उपेक्षित अथवा अवरुद्ध है, वह आनंद के अनेक सूक्ष्म रूपों से वंचित रह जाता है। हीन केवल वहीं नहीं है, जिसने धर्म और काम को छोड़कर केवल अर्थ को पकड़ा है; न्यायगतः उकठा काठ तो उस साधक को भी कहना चाहिए, जो धर्म सिद्धि के प्रयास में अर्थ और काम दोनों से युद्ध कर रहा है।"[5]

उर्वशी पर विस्तृत चिन्तन से पूर्व आइये इसकी पूर्वपीठिका भी जान लें। उर्वशी के सृजन से पूर्व दिनकर की ख्याति एक वीर रस के कवि के रूप में थी। यद्यपि दिनकर ने उर्वशी से पूर्व रसवंती, रेणुका और द्वंद्वगीत में कुछ प्रणय गीत अवश्य लिखे किन्तु उन्हें कभी भी प्रणय का कवि नहीं स्वीकारा गया। उलटे आलोचकों ने उन पर यह आरोप लगाने शुरू कर दिए कि वे बौद्धिक कविताएँ नहीं लिख सकते और केवल वीर रस की चाशनी में पगी रचनाएँ ही लिख सकते हैं। इससे विचलित होकर दिनकर ने कहा, "माचान पर बैठे-बैठे टीन बजाते थक गया हूँ। अब कुछ ऐसा लिखना चाहता हूँ, जिसमें आत्मा का रस अधिक हो।"[6]

इस चुनौती के प्रत्युत्तर में अन्यत्र उन्होंने कहा, "मैं भी चाहता था कि

गर्जन-तर्जन छोड़कर कोमल कविताओं की रचना करूँ, जिनमें फूल हों, सौरभ हों, रमणी का सुंदर मुख और प्रेमी पुरुष के हृदय का उद्वेग हो।"

जब उन्होंने प्रणय की रचना की कथा की खोज की तो उनकी दृष्टि उर्वशी और पुरुरवा की प्रणय गाथा पर आकर ठहर गयी। इसके बाद उन्होंने ऋग्वेद, शिवपुराण, पद्मपुराण, मनुस्मृति, महाभारत, शतपथ ब्राह्मण और विक्रमोर्वशीयं में इस कथा के अन्तःसूत्रों की तलाश शुरू की और रवीन्द्रनाथ ठाकुर तथा महर्षि अरविन्द कृत उर्वशी का भी गहन अध्ययन किया किन्तु महत्त्वपूर्ण बात यह कि उन्होंने इन कथाओं को ज्यों का त्यों न लेकर इस कथा को एक नवीन दृष्टिकोण और नवीन युग के अनुरूप प्रश्नों से जोड़ने का काम किया, ऐसे ही जैसे 'पानी पर चलो, किन्तु, पानी का दाग नहीं लगे।"[7] और सामने आयी एक ऐसी रचना जिसने उनके आलोचकों का मुँह बन्द कर दिया। सन् 1953 से 1961 तक लगभग 8 वर्ष की दीर्घ कालावधि के चिन्तन, मनन और सृजन का परिणाम है यह कृति।

दिनकर कृत उर्वशी की कथा प्रतिष्ठानपुर के ऐल नरेश पुरुरवा और स्वर्ग की अप्सरा उर्वशी के प्रेम पर आधारित है, जिसके प्रथम अंक में उर्वशी अतीन्द्रिय प्रेम से अतृप्त होकर ऐन्द्रिक प्रेम पाने के लिए धरती पर आती है और पुरुरवा के उद्यान में आयी अप्सराएँ यह सूचना देती हैं कि उर्वशी ने प्रथम बार स्वर्ग में पुरुरवा के दर्शन किये और दोनों में प्रेम जाग्रत हो गया है। द्वितीय अंक में पुरुरवा की पत्नी रानी औशीनरी को इस प्रेम का पता चलता है और वह विलाप करती है। कथा के वास्तविक पक्ष का निदर्शन तृतीय अंक में दृष्टिगोचर होता है, जब उर्वशी और पुरुरवा का मिलन होता है और परस्पर संसर्ग से वे दोनों अपने-अपने अनुसार प्रणय को परिभाषित करते दीखते हैं और परस्पर वार्त्तालाप के माध्यम से प्रेम के गूढ़ तत्वों पर अपने विचार रखते हैं। चतुर्थ अंक में सुकन्या उर्वशी के नवजात का पालन करती है। पाँचवें अंक में शाप के फलीभूत होने के कारण उर्वशी वापस स्वर्ग की ओर प्रस्थान करती है और सुकन्या उर्वशी-पुरुरवा के पुत्र आयु को प्रतिष्ठानपुर ले आती है, पुरुरवा संन्यास ले लेता है और आयु के राज्याभिषेक के साथ कथा का समापन होता है।

प्रथमदृष्टया देखने में यह कथा बेहद साधारण प्रतीत होती है किन्तु यह दिनकर का रचना कौशल है जो इस कथा में अपने चमत्कार से इसे युगसापेक्ष प्रश्नों से लैस कर पुरुषार्थ से जोड़ देता है और कुछ ऐसे अबूझ सवाल हमारे समक्ष रखता है, जिनसे भारत का समकालीन समाज प्रायः नजरें चुरा लिया करता है।

प्रेम, काम और सम्भोग जैसे प्रश्न उठाना पारम्परिक भारतीय समाज में प्रायः वर्जित हैं। यह कृति ऐसे सवालों से सफलतापूर्वक जूझती है। आलोचक भी इस कृति के विषय में एकमत नहीं हैं। कुछ आलोचकों ने कहा है कि 'उर्वशी' में एक दुर्निवार कामुक अहं ने अस्वाभाविक ढंग से आध्यात्मिक मुकुट पहनने की कोशिश की है तो कुछ आलोचकों ने उर्वशी को 'समाधिस्थ चित्त' की देन बतलाया है। 'कल्पना' पत्रिका में इस पर काफी विवाद चला। मुक्तिबोध ने दिनकर पर आरोप लगाते हुए लिखा, "कवि कामात्मक मनोरति और संवेदनाओं में डूबना-उतरना चाहते हैं, साथ ही इस गतिविधि के सांस्कृतिक-आध्यात्मिक श्रेष्ठत्व का प्रतिपादन करना चाहते हैं। डॉ. नामवर सिंह ने भी इस पर सहमति जताई है।"[8]

लेकिन यदि हम इस कृति के सांगोपांग निरूपण पर ध्यान दें तो पाते हैं कि कवि का मनोभाव सिर्फ इतना ही नहीं है, वरन् वह यह सिद्ध करना भी चाहता है कि काम अवर्ण्य नहीं है अपितु धर्म और अर्थ की भाँति उसे भी पुरुषार्थ का एक महत्त्वपूर्ण लक्ष्य समझा जाना चाहिए क्योंकि धर्म से अर्थ, अर्थ से काम और काम से पुनः धर्म की प्राप्ति की जा सकती है।"[9]

दिनकर ने काम के विकृत रूप पर भी प्रकाश डाला है, जिसके फलस्वरूप पापकर्म हो हैं और इसके लिए उन्होंने मन को दोषी माना है–

"तन का क्या अपराध?
यंत्र वह तो सुकुमार प्रकृति का
सीमित उसकी शक्ति और
सीमित आवश्यकता है।
यह तो मन ही है,
निवास जिसमें समस्त विपदों का;
यही व्यग्र, व्याकुल असीम
अपनी काल्पनिक क्षुधा से
हाँक-हाँक तन को उस जल को
मलिन बना देता है,
बिम्बित होती किरण अगोचर की
जिस स्वच्छ सलिल में,
जिस पवित्र जल में समाधि के
सहस्रार खिलते हैं,
तन का काम अमृत,
लेकिन यह मन का काम गरल है।"[10]

देह से उत्थित होने वाले प्रेम को ही दिनकर जी ने रहस्य-चिंतन तक पहुँचा दिया है। यह फ्रायड के मनोवैज्ञानिक 'सब्लिमेशन' की तरह एक 'आध्यात्मिक उन्नयन' है। कवि ने प्रेम को मनोमय लोक में पहुँचा दिया है। पुरुरवा का अंतिम विकल्प कामाध्यात्म की ओर है। तभी तो हजारी प्रसाद द्विवेदी कहते हैं, "'उर्वशी' विश्वब्रह्मांडव्यापी मानस की नित्य-नवीन सौन्दर्य-कल्पना के रूप में ऐसी बिखरी है कि आश्चर्य होता है।

निश्चय ही, यह समाधिस्थ चित्त की रचना है–समाधिस्थ चित्त जो विराट् मानस के साथ एकाकार हो गया था।"[11]

दिनकर का 'काम' सेक्स भर न होकर उससे आगे जाता है, इसीलिए उर्वशी के कथन के माध्यम से दिनकर भारतीय समाज के परम्परावादी ठेकेदारों को चुनौती देते हुए सवाल करते हैं–

"वह विद्युन्मय स्पर्श तिमिर है,
पाकर जिसे त्वचा की
नींद टूट जाती,
रोमों में दीपक बल उठते हैं?
वह आलिंगन अंधकार है,
जिसमें बँध जाने पर
हम प्रकाश के महासिंधु में
उतराने लगते हैं?
और कहोगे तिमिर-शूल उस
चुम्बन को भी जिससे
जड़ता की ग्रंथियाँ निखिल
तन-मन की खुल जाती हैं?
यह भी कैसी द्विधा?
देवता गंधों के घेरे से
नकल नहीं मधुपूर्ण पुष्प का
चुम्बन ले सकते हैं।
और देहधर्मी नर फूलों के
शरीर को तजकर
ललचाता है दूर गंध के
नभ में उड़ जाने को।"[12]

यह चुनौती सिर्फ समाज के ठेकेदारों तक सीमित नहीं है अपितु यह एक नारी का सम्पूर्ण पुरुष जाति से किया गया वह प्रश्न भी है, जो अभी तक अनुत्तरित है क्योकि पुरुष सदैव ऊर्ध्वगामी है, वह परितोषक नहीं अपितु यायावर है, जबकि स्त्री इसके विपरीत स्वभाव की है। यही वजह है कि जब प्रणयरत उर्वशी पुरुरवा के प्रेम में एकनिष्ठ थी तो पुरुरवा का मन किसी अव्यक्त की ओर उड़ान भरता रहता है–

"देह प्रेम की जन्मभूमि है।
पर, उसके विचरण की,
सारी लीला-भूमि नहीं सीमित है
रुधिर-त्वचा तक।
यह सीमा प्रसरित है मन के
गहन-गुह्य लोकों में,
जहाँ रूप की लिपि अरूप की
छवि आँका करती है,
और पुरुष प्रत्यक्ष विभासित
नारी-मुखमंडल में
किसी दिव्य-अव्यक्त कमल
को नमस्कार करता है।"[13]

समीक्ष्य कृति के माध्यम से दिनकर ने यह भी दर्शाया है कि पुरुष का मूलभूत स्वभाव नित्य नवीनता का आग्रही है। जो नारी यह कर पाने में असफल रहती है, उसका हश्र औशीनरी सरीखा होता है और जो नारी पुरुष के इस गोपन रहस्य को समझ लेती है, वह उर्वशी जैसी विजेता होती है जो अपनी छगुनी अंगुली से पुरुष रूपी चट्टान को हिला सकती है–

"उस पर भी नर में प्रवृत्ति है
क्षण-क्षण अकुलाने की,
नयी-नयी प्रतिमाओं का नित
नया प्यार पाने की।
वश में आयी हुई वस्तु से
इसको तोष नहीं है,
जीत लिया जिसको,
उससे आगे संतोष नहीं है।"[14]

मुक्तिबोध और डॉ. नामवर सिंह के आरोप इसलिए भी निराधार हैं क्योंकि यदि दिनकर कामात्मक मनोरति और संवेदनाओं में डूबना-उतरना चाहते तथा इस गतिविधि के माध्यम से सांस्कृतिक-आध्यात्मिक श्रेष्ठत्व का प्रतिपादन करना चाहते तो वह निष्काम काम सुख को ईश्वरीय पुलक का नाम न देते और न ही उसे समाधि की ओर प्रवृत्त करने वाली प्रकृति कहते–

"प्रकृति नित्य आनंदमयी है,
जब भी भूल स्वयं को
हम निसर्ग के किसी रूप
(नारी, नर या फूलों) से
एक तान होकर खो जाते हैं
समाधि निस्तल में,
खुल जाता है कमल,
धार मधु की बहने लगती है,
दैहिक जग को छोड़ कहीं
हम और पहुँच जाते हैं,
मानो, मायावरण एक क्षण
मन से उतर गया हो।"[15]

काम की सांस्कृतिक आध्यात्मिक श्रेष्ठत्व की बात कहने वाले दिनकर पहले कवि या रचनाकार नहीं हैं। उनसे पूर्व ऋग्वेद, विभिन्न पुराणों, महाभारत इत्यादि में काम के महत्त्व का प्रतिपादन हुआ है, जिसे दिनकर ने भूमिका में विस्तारपूर्वक वर्णित किया है। अतः ऐसा आरोप लगाना दिनकर ही नहीं वरन् इन सभी कृतियों के रचनाकारों के साथ भी अन्याय होगा।

दिनकर ने 'मिट्टी की ओर' निबन्ध संग्रह में लिखा है, "महाकवि वह है जो अपने शब्दों के मुँह में जीभ दे सके।"[16] कहने की आवश्यकता नहीं कि दिनकर उर्वशी में अपने द्वारा तय की गयी इस कसौटी पर पूरी तरह से सफल हुए हैं। शब्दों के मुँह में जीभ से अभिप्राय काव्य की प्रभविष्णुता और स्वतः प्रभावशाली हाने से है। चित्रमयता भी इसकी एक जरूरत है, जिसे 'चक्रवाल' में और स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा है, "सच्चे अर्थों में मौलिक कवि वह है, जिसके उपमान मौलिक होते हैं और श्रेष्ठ कविता की पहचान यह है कि उसमें उगने वाले चित्र स्वच्छ और सजीव होते हैं... जिस कविता में जितने अधिक चित्र उठते हैं, उसकी सुन्दरता भी उतनी अधिक बढ़ जाती है। जो ज्ञान चित्र में परिवर्तित नहीं किया जा सकता, वह कविता के लिए बोझ बन जाता है।"[17]

यहाँ यह ध्यातव्य है कि दिनकर अपने प्रारंभिक रचनाकाल में छायावाद के कटु आलोचक के रूप में हमारे समक्ष आते हैं लेकिन वे चक्रवाल की भूमिका तक आते-आते अपना स्वर बदलने लगते हैं। दिनकर ने 'मिट्टी की ओर' में छायावाद को पुंसत्वहीन कहा था। उन्होंने लिखा था, "यह अच्छा ही हुआ कि पुंसत्वहीन और अभिशप्त छायावाद की मृत्यु हो गयी।"[18] लेकिन यही दिनकर अपने ऊपर लगातार हो रहे आलोचकों एवं प्रगतिवादियों के तीखे प्रहारों तथा काव्यात्मक विकास के परिणामस्वरूप 'चक्रवाल' तक आते-आते छायावादी रचनाओं को श्रेष्ठ स्वीकारने लगते हैं। वे लिखते हैं, "यह आन्दोलन (छायावाद) विचित्र जादूगर बनकर आया था। जिधर को उसने एक मुट्ठी गुलाल फेंक दी, उधर क्षितिज लाल हो गया।"[19]

डॉ. विजेन्द्रनारायण सिंह इसीलिए लिखते हैं, "दिनकर छायावाद की भर्त्सना करते समय यह भूल गए थे कि उसी की कुक्षि से उनका जन्म हुआ था। बाद में जब दिनकर को प्रगतिवादियों ने आड़े हाथों लिया और अपने समाज से बहिष्कृत कर दिया, तब उन्हें आत्मनिरीक्षण का अवसर मिला। उन्होंने महसूस किया कि प्रगतिवाद साहित्य की अपेक्षा राजनीति का आन्दोलन था। वे तब यह मानने को बाध्य हो गए कि छायावाद का परिष्कार ही प्रगतिवाद था। दिनकर का परवर्ती काव्य वस्तुतः छायावाद की छाया में लिखा गया है। परिणामतः उनकी परवर्ती आलोचना इस प्रकार नहीं भड़कती है, जिस प्रकार वह पहले भड़कती थी।"[20]

इन तथ्यों के आलोक में डॉ. विजेन्द्रनारायण सिंह की इस बात से सहमत हुआ जा सकता है कि 'उर्वशी के अधिकांश रंग छायावाद की कटोरी से लिए गए हैं।'[21] इसीलिये स्थूल से सूक्ष्म की ओर प्रस्थान और लौकिकता से अलौकिकता की ओर प्रयाण उर्वशी का मूल स्वर है। वे स्वयं कहते हैं, "इन्द्रियों के माध्यम से अतीन्द्रिय धरातल का स्पर्श, यही प्रेम की आध्यात्मिक महिमा है।"[22]

अब पुरुरवा और उर्वशी के अन्योक्तिपरक अर्थ की भी चर्चा कर ली जाये। स्वयं दिनकर ने भूमिका में इनके तीन अर्थों की चर्चा की है। उनके अनुसार–

"मनु और इड़ा तथा पुरुरवा और उर्वशी की कथाएँ एक ही विषय को व्यंजित करती हैं। जिस प्रक्रिया के कर्त्तव्य पक्ष का प्रतीक मनु और इड़ा का आख्यान है, उसी प्रक्रिया का भावना पक्ष पुरुरवा और उर्वशी की कथा में कहा गया है।"

सर विलियम विल्सन ने अनुमान लगाया था कि पुरुरवा-उर्वशी की कथा अन्योक्तिपरक है। इस कथा का वास्तविक नायक सूर्य और नायिका उषा है। इन दोनों का मिलन कुछ ही काल के लिए होता है, बाद में वे प्रतिदिन बिछुड़ जाते हैं।

किन्तु, इस कथा को लेने में वैदिक आख्यान की पुनरावृत्ति अथवा वैदिक प्रसंग का प्रत्यावर्तन मेरा ध्येय नहीं रहा। मेरी दृष्टि में पुरुरवा सनातन नर का प्रतीक है और उर्वशी सनातन नारी का।

उर्वशी शब्द का कोषगत अर्थ होगा उत्कट अभिलाषा, अपरिमित वासना, इच्छा अथवा कामना। और पुरुरवा शब्द का अर्थ है वह व्यक्ति जो नाना प्रकार का रव करे, नाना ध्वनियों से आक्रान्त हो।

उर्वशी चक्षु, रसना, घ्राण, त्वक् तथा श्रोत्र की कामनाओं का प्रतीक है; पुरुरवा रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द से मिलने वाले सुखों से उद्वेलित मनुष्य।

पुरुरवा द्वंद्व में है, क्योंकि द्वंद्व में रहना मनुष्य का स्वभाव है। मनुष्य सुख की कामना भी करता है और उससे आगे निकलने का प्रयास भी।"[23]

दिनकर ने इस कृति का जो प्रथम अन्योक्तिपरक अर्थ दिया है, उसके सांचे पर यह कृति खरी उतरती है। कामायनी में स्वयं इड़ा मनु को कर्त्तव्य का भान कराती है तो यहाँ भावनाओं का कोलाहल है, द्वंद्व है और भावनाओं में बहकर पुरुरवा का उर्वशी के प्रेम के वशीभूत होना तथा संन्यास हेतु प्रवृत्त होना अभिव्यक्ति है।

द्वितीय अर्थ सर विलियम विल्सन का है, जिसके प्रति न तो दिनकर ने रुचि दर्शाई है और न ही यह अर्थ इस कृति की कथा से प्रत्यक्षतः सम्बन्धित है। हाँ, इतना अवश्य है कि उर्वशी के बार-बार स्वर्ग से धरा पर आने की कथा से इसके तन्तु अवश्य जुड़ते हैं।

तृतीय अर्थ स्वयं दिनकर ने दिया है, जो कथा के सूत्रों में सर्वत्र प्रतिध्वनित होता है। पुरुरवा और उर्वशी सनातन नर-नारी के वास्तव में प्रतीक हैं क्योंकि मानवीय वृत्तियों में आज भी इन दोनों आदि नर-नारियों की भावनात्मक प्रवृत्ति देखी जा सकती है। यह वास्तव में एक सौन्दर्यशास्त्र विश्लेषण है। पंचेन्द्रियों का पंचतन्मात्राओं से सामंजस्य ही सौन्दर्य का हेतु है, जो प्रकारांतर से आनंद का ही पर्याय है।

अतः यह कहा जा सकता है कि उर्वशी सही मायने में नर-नारी की आदिम प्रवृत्ति का आख्यान है, जिसे आध्यात्म से संयुक्त करते हुए कवि ने 'मनुष्य की कराल वेदना'[24] और स्त्री की 'आत्मतंत्रा यौवन की नित्य नवीन प्रभा'[25] से प्रदीप्त कर दिया है। इसीलिए

यह अकारण नहीं कि दिनकर ने उर्वशी को 'अप्सरा लोक के कवि सुमित्रानन्दन पन्त' को समर्पित किया है। पन्त जैसे सौन्दर्य के पारखी चित्र काव्य के सम्राट भी इस कृति पर रीझकर कहते हैं, "दिनकर उत्तरछायावादियों में प्रथम श्रेणी के कवि हैं। द्विवेदी युग की अभिधात्मक शैली के प्रति आकर्षण होने पर भी छायावादी सृजन चेतना को उन्होंने अमूल्य पुष्कल भेंट प्रदान की है।"[25]

सन्दर्भ सूत्र–

1. मिश्र, भवानीप्रसाद, उदासी : कभी ओज, कभी खिलखिलाहट, दिनमान, 5 मई, 1974, पृष्ठ 24
2. दिनकर, रामधारीसिंह, उर्वशी, भूमिका, लोकभारती पेपरबैक्स, छठवाँ संस्करण, 2013, पृष्ठ 9-10
3. वही, पृष्ठ 9
4. वही, पृष्ठ 8
5. वही, पृष्ठ 12
6. कुमुद शर्मा, हिन्दी के निर्माता, भारतीय ज्ञानपीठ, नयी दिल्ली, 2006, पृष्ठ 323
7. दिनकर, रामधारी सिंह, उर्वशी, भूमिका, पृष्ठ 14
8. http://raj-bhasha-hindi.blogspot.in/2011/09/blog-post_23.html
9. वही, पृष्ठ 12
10. वही, पृष्ठ 88
11. http://raj-bhasha-hindi.blogspot.in/2011/09/blog-post_23.html
12. वही, पृष्ठ 55
13. वही, पृष्ठ 68
14. वही, पृष्ठ 45
15. वही, पृष्ठ 89
16. दिनकर, रामधारी सिंह, चक्रवाल, पृष्ठ 73
17. दिनकर, रामधारी सिंह, 'मिट्टी की ओर', निबन्ध संग्रह, पृष्ठ 65
18. दिनकर, रामधारी सिंह, चक्रवाल, भूमिका, पृष्ठ 20
19. सिंह, डॉ. विजेन्द्रनारायण, दिनकर : एक पुनर्मूल्यांकन, पृष्ठ 26
20. सिंह, डॉ. विजेन्द्रनारायण, दिनकर : एक पुनर्मूल्यांकन, पृष्ठ 26
21. दिनकर, रामधारी सिंह, उर्वशी, भूमिका, पृष्ठ 9
22. दिनकर, रामधारी सिंह, उर्वशी, भूमिका, पृष्ठ 8
23. दिनकर, रामधारी सिंह, उर्वशी, भूमिका, पृष्ठ 37
24. दिनकर, रामधारी सिंह, उर्वशी, भूमिका, पृष्ठ 99
25. सुमित्रानन्दन, छायावाद : पुनर्मूल्यांकन, पृष्ठ 116

वरिष्ठ प्राध्यापक (हिन्दी विभाग),
नेहरू पी.जी. कॉलेज,
ललितपुर-284403 (उत्तर प्रदेश)

उपेन्द्रनाथ अश्क : एक बहुआयामी रचनाकार

राजेन्द्र परदेसी

राजेन्द्र परदेसी जाने-माने रचनाकार। गगनांचल में नियमित लिखते रहते हैं। देश की विभिन्न प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में भी लेखन। कई पुस्तकें प्रकाशित एवं संप्रति पेशे से इंजीनियर हैं।

हिन्दी साहित्य के द्विवेदी युग में हिन्दी खड़ी बोली का निरंतर विकास होता रहा। सुधारों के साथ-साथ परिष्कार भी हुआ। भाषा के साथ-साथ साहित्य का भी विकास होता रहा। छायावाद के आखिरी चरण तक पहुँचते-पहुँचते हिन्दी साहित्य प्रौढ़ावस्था को प्राप्त कर चुका था। कविता, कहानी, उपन्यास, निबंध आलोचना, नाटक, संस्मरण, यात्रा वृतांत सहित पत्र-साहित्य भी अस्तित्व में आ चुका था। साहित्य जगत में मैथिलीशरण गुप्त, प्रेमचंद, छायावादी कवि प्रसाद, पंत, निराला एवं महादेवी वर्मा राष्ट्रीय सांस्कृतिक कवियों में माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा नवीन, सुभद्राकुमारी चौहान, सियाराम शरण गुप्त, दिनकर इत्यादि साहित्कारों की उपस्थिति से हिन्दी साहित्य समृद्धि के शिखर पर पहुँच चुका था। प्रगतिवाद एवं प्रयोगवाद के अन्य नामी-गिरानी साहित्यकारों का समूह भी सक्रिय भागीदारी से अपनी पहचान बना चुका था या बना रहा था। साहित्य के ऐसे परिष्कृत परिवेश एवं समृद्ध समय में उपेन्द्रनाथ अश्क का आगमन और उसके उपरान्त अपनी पुख्ता पहचान बनाकर प्रभावशाली साहित्यकार का ऊँचा कद बना पाना असम्भव नहीं तो

मुश्किल अवश्य था। फिर भी अश्क ने अपनी सृजनशीलता के बल पर वह सबकुछ हासिल किया, जिससे उन्हें हिन्दी साहित्य में एक अलग और अद्भुत पहचान मिली। तेज ताकत और तेवर से उन्होंने साहित्य में वह मुकाम बनाया जहाँ पहुँचकर कोई साहित्यकार गौरवान्वित होता है। समृद्ध एवं सशक्त सृजनशीलता के बदौलत उपेन्द्रनाथ अश्क जैसा रचनाकार हिन्दी साहित्य को मिला, जिसने अपनी कृतियों से न केवल हिन्दी को अपितु पंजाबी और उर्दू को भी समृद्ध किया तथा अपनी छवि को व्यापक बनाया।

उपेन्द्रनाथ अश्क का जन्म 14 दिसम्बर 1910 को जालंधर शहर में हुआ था। उनके पिता का नाम पं. माधोराम था। पत्नी का नाम कौशल्या था। उनके दो पुत्र उमेश और नीलाभ हुए। अश्क के पिता स्टेशन मास्टर थे। किन्तु आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी। फिर भी अश्क की शिक्षा में कोई खास व्यवधान नहीं आया। वे सन् 1931 में डी.ए.वी. कालेज, जालंधर से बी.ए. तथा 1936 में यूनिवर्सिटी लॉ कालेज से एल.एल. बी. किये। आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी न होने के कारण ये कम उम्र में ही नौकरी के चक्कर में पड़ गए। और दयानंद ऐंग्लो-संस्कृत स्कूल जालंधर में अध्यापक हो गए। कुछ समय अध्यापन करने के बाद वे लाहौर में जाकर रेडियो के लिए नाटक लिखने लगे। साथ सेल्स एजेंट का काम करते हुए प्रकाशन सम्बन्धी काम भी देखने लगे। दो वर्ष बाद वे आल इंडिया रेडियो से सम्बद्ध हो गये। फिर वह इलाहाबाद आ गये, जहाँ रेडियो में प्रोड्यूसर बने। इलाहाबाद आने के बाद अश्क इलाहाबाद के ही हो गए और वहीं इनका शेष जीवन व्यतीत हुआ।

उपेन्द्रनाथ अश्क एक बाहुआयामी रचनाकार थ। साथ ही वे अनुभूतियों के रचनाकार बनकर साहित्य के विविध रूपों से गहरे जुडे रहे। उनकी रचनाओं में अनुभूतियाँ सहज बुनावट में मौलिक बनकर यथार्थता को दर्शाती है। एक मौलिक रचनाकार की हैसियत से उन्होंने अपनी सर्जनात्मकता में हमेशा ही मौलिक एवं वास्तविक बने रहने का प्रयत्न किया। वे कल्पना प्रधान और कोरी रूमानियत से अलग उन रचनाओं

को ही ज्यादे तरजीह एवं श्रेष्ठता प्रदान किये, जो अनुभूतियों के संस्पर्श से सृजित होती थी। उनका कहना था कि मैं भांड या मीरासी नहीं हूँ कि मैं महज पाठकों के मनोरंजन के लिए रचना करूँ। मैंने जिन्दगी में बहुत भोगा है। जिन्दगी की समस्याओं और पेचीदगियों पर चिंतन किया है। मैं अपनी तमामतर तकलीफ इसलिए रचनाओं में रखता हूँ कि पाठक मेरे अनुभवों से तादात्म्य स्थापित कर अपने को, समाज की व्यवस्था को पहचाने (विवादों के घेरे में)। अपने जीवन के भोगे हुए यथार्थ को ही रचनाओं का स्थान देकर पूरी ईमानदारी से सामाजिक सच्चाईयों को लोगों के सामने रखने का साहस अश्क जैसे साहित्यकार की खासियत हो सकती है अपनी स्पष्टवादिता, बेबाक कथन एवं सामाजिक सरोकारों से युक्त रचनाशीलता के कारण अश्क आलोचकों की नजर में ही नहीं, आम लोगों की आँखों में भी एक पारदर्शी साहित्यकार की भूमिका में स्थायी पहचान बनाने में काफी सफल रहे। उनका मानना था कि लेखन में पूरी तरह पारदर्शिता होनी चाहिए। वे अस्तित्ववादी एवं फैशनपरस्ती के लेखन से अलग जीवन में यथार्थ की परख से किये गए लेखन को अपने जीवन में अधिक महत्व दिये। उनका साहित्य समाज के लिए संदेश बनकर मूल्यों की स्थापना एवं उसकी सामाजिक स्वीकृति पर अधिक बल दिया, जिससे अश्क की संवेदनशीलता का परिचय मिलता है। उनके जीवन और साहित्य में मानवीय रिश्तों की बुनावट सामाजिक मूल्यों की पृष्ठभूमि में पुख्ता होकर अपना प्रभाव दिखाती है। सामाजिक आदर्शों के प्रति गहरी संवेदना उनके साहित्य की अमूल्य निधि बनकर अश्क को आकर्षक और अद्भुत बनाती हैं यही कारण है कि अपने समकालीन रचनाकारों में अश्क सर्वथा अलग और अद्वितीय दिखते हैं।

उपेन्द्रनाथ अश्क के साहित्य-सफर की शुरूआत कविता से हुई। वैसे साहित्य जगत में उनको ख्याति कहानी, उपन्यास, नाटक एवं एकांकियों से ही अधिक मिली। फिर भी कविता उनके जीवन से आद्योपांत जुड़ी रही और सुख-दुःख के क्षणों में उनकी भाव-स्थितियों का चित्रण करने में पूर्ण समर्थ रही। उनका कविकंठ विषम परिस्थितियों में भी कभी रूधा नहीं। छंदबद्ध कविता हो या मुक्त छंदों की कविता, गीत या गजल लगभग सभी काव्य धाराओं में उनका डूबता-उतरता मन सहजता के साथ हिलोरें लेता रहा। व्यथा के चित्रों को कविता के माध्यम से व्यक्त करने में उनकी कवि मन गहरे अनुभवों से जुड़कर भावों की गहराई में उतरता है और एक 'अदृश्य नदी' की खोज करके उसी में विलीन होकर उसी के साथ बहने लगता है-

"तुम्हारी आँखों में उमड़ आयी
इन दो नदियों ने
मुझे ऐसे डूबो लिया।
जैसें गर्मियों की तपती दोपहरी में
मेरे नगर की नदियाँ, अपने संगम में
मुझे डुबो लेती है।
गंगा-जमुना ही नहीं, मेरे नगर में
लोग कहते है-
एक तीसरी नदी भी है-सरस्वती
जो कभी दिखायी नहीं देती
जो कभी दिखायी नहीं देती,
वह व्यथा है-
जो दिल-ब-दिल बहती है।
उसी तीसरी नदी ने
मुझे डुबो लिया है।" (अदृश्य नदी से)

अश्क ने लगभग आठ कविता संग्रह और एक खण्ड काव्य 'बरगद की बेटी' लिखा। कविता के इन छोटे-बड़े रूपों में सामाजिक एवं राजनीतिक स्थितियाँ भी आकार लेती रहीं, चाँदनी रात और अजगर, अदृश्य नदी, दीप जलेगा, इत्यादि काव्य-कृतियों में निजी जीवन की व्यथाओं के अतिरिक्त सामाजिक-राजनीतिक स्थितियाँ भी उभरकर सामने आयी है। 'दीप जलेगा' कविता में महाराष्ट्र के किसान आन्दोलन एवं तेलंगाना मूवमेंट के प्रभाव के साथ-साथ गोर्की एवं प्रेमचंद की संघर्षशील चेतना भी संयुक्त रूप से प्रभावकारी रही। कविता उनके जीवन की एक-एक धड़कन में एक-एक सांस में समायी हुई थी। उसका स्वर भले ही किसी खास समय में ही सुनाई क्यों न पड़े? अश्क ने कविता तथा ग़ज़ल पंजाबी में लिखना आरम्भ किया था। बदलते समय के साथ-साथ उनकी कविताओं के रंग-रूप बदलते गए। पंजाबी के बाद उर्दू तथा हिन्दी में भी उनकी कविताएं लगी और भाषायी अन्तर के साथ-साथ अलग-अलग आस्वादों में रस देती रही। पंजाबी में ग़ज़ल के साथ-साथ उन्होंने लोकगीत के तर्ज पर 'झांझरे' और 'बैत' भी लिखा। कविता का यह सिलसिला पंजाबी से उर्दू और हिन्दी में चलता रहा, किन्तु कुछ कारणों से अश्क कविता से कथा साहित्य की ओर मुड़ गए और कहानी तथा उपन्यासों में ही अपनी प्रतिभा को खपाकर साहित्य की दिशा और दशा को बदलेने एवं सँवारने में लग गए। अश्क की अन्य काव्यकृतियों में 'प्रातः प्रदीप', उर्मियां, स्वर्ग एक तलघर है, तथा 'एक दिन' आकाश ने कहा इत्यादि प्रमुख हैं।

उपेन्द्रनाथ अश्क का साहित्य सफर कविता से होते हुए कथा साहित्य की ओर मुड़ता है। कथा साहित्य में उनका आगमन कविता से अचानक मोहभंग होने के कारण हुआ। यही कारण है कि अश्क ने कथा साहित्य को जिस लगाव और उम्मीद से अपनाया काफी हद तक उसमें वे सफल रहे। अनुभवों को आकार देने और प्रभावोत्पादक बनाने में अच्छे अवसर को देखते हुए अश्क ने इस काव्येतर विधा में लेखन आरम्भ किया। उनका पहला कहानी संग्रह 'जुदाई की शाम का गीत'

सन् 1993 में प्रकाशित हुआ। इनकी कहानियाँ सामाजिक परिवेश को ज्यादा छूती हैं। समान के निम्न-मध्यवर्गीय जीवन की जटिल समस्याओं की ओर उनकी कथा-दृष्टि केन्द्रित है, जिसमें सादगी के साथ-साथ संवेदनाएँ भी सन्निहित हैं। सामाजिक यथार्थ को उनकी कहानियों में ज्यादा महत्व मिला है, जो समय और समाज को समझने की दिशा में एक पड़ताल जान पड़ती है। डॉ. ची, कांगड़ा का तेली, जैसी कहानियों में अश्क ने मजदूर जीवन की लाचारी, बेबसी और अभावग्रस्तता को चित्रित करके यह दिखाने का प्रयास किया है कि समाज में कमजोर व्यक्ति की इच्छाएँ कैसे सशक्त और सम्पन्न व्यक्तियों की इच्छाओं के नीचे दब जाती है और दबती ही नहीं, सदा-सदा के लिए दफन हो जाती है। या दफना दी जाती हैं। श्रमिकों के सपने, सपने ही बने रह जाते हैं। वास्तविक जिन्दगी के वे हिस्से नहीं बन पाते, अश्क की अन्य कहानियों में काले साहब, पलंग, नासूर, पिंजरा, उबाल इत्यादि महत्वपूर्ण हैं। अश्क प्रेमचन्द की भांति ही उर्दू से हिन्दी में आये कथाकार हैं, जो सामाजिक यथार्थ को तरजीह देते हुए कहानी लेखन को पूरी तरह से हिन्दी में ढाल सके।

उपेन्द्रनाथ अश्क अपने उपन्यासों में प्रेमचन्द की परम्परा को ही आगे बढ़ाते हुए सामाजिक यथार्थ के अन्तर्गत मध्यवर्गीय परिवारों और उसमें जीने वाले व्यक्ति की समस्याओं को उनकी परिस्थितियों एवं परिवेश के साथ चित्रित करते हुए अश्क ने बहुत हद तक प्रेमचन्द को ही दुहराया है। फिर भी उसमें जो यथार्थता है, वह काफी प्रामाणिक है। यथार्थवादी परम्परा में रचा गया अश्क का उपन्यास 'गिरती दिवारें' (1947) काफी महत्वपूर्ण है, जिसमें मध्यवर्गीय जीवन के संघर्ष के साथ उसकी विवशता, पराजय और लाचारी को चित्रित करके अश्क ने अपने सामाजिक सरोकारों को व्यक्त किया है, उपन्यास में आर्थिक समस्या के साथ-साथ कामजनित समस्याएं भी उठायी गयी हैं, जो सामाजिक-आर्थिक परिप्रेक्ष्य में वास्तविक स्थितियों को व्यक्त करती हैं। इस उपन्यास के दो अगले खण्ड 'शहर में घूमता आईना' तथा 'एक नन्हीं कन्दील' में जो उपन्यास के मुख्य पात्र 'चेतन' के संस्करणों को ही दर्शाया गया है। इसी शृंखला में 'गर्म राख' उनका सफल उपन्यास है। अन्य उपन्यासों में 'सितारों के खेल' 'बाँधों न नाव इस ठाँव', बड़ी-बड़ी आँखें, पत्थर-अल-पत्थर, इत्यादि का हिन्दी साहित्य में काफी महत्व है।

हिन्दी साहित्य में एक सफल नाटककार के रूप में भी अश्क याद किये जाते हैं। वे पहले नाटककार हैं, जिसने हिन्दी नाटकों को रोमांस से अलगाते हुए उसे आधुनिक भावबोध के स्तर पर खड़ा किया। साथ ही रंगमंचीय स्वरूप प्रदान करके उन्हें जीवन के यथार्थ से भी जोड़ने का प्रयास किया। उन्होंने पूर्व की नाट्य परम्परा से अलग समाज की बदलती यथार्थवादी परिस्थितियों में नाटकों का सृजन आधुनिक संदर्भ में किया। जय-पराजय, छठा बेटा, स्वर्ग की झलक, कैद और उड़ान, पैतरे, अलग-अलग रास्ते, अंजो दीदी, भँवर, लौटता हुआ दिन, इत्यादि अश्क के प्रमुख नाटक हैं। जिसमें समाज एवं परिवार के अनेकानेक चित्र यथार्थवादी पृष्ठभूमि में दर्शाए गये हैं। उनके पाठकों में नारी-सृष्टि परिवेशगत संदर्भो में अलग-अलग हुई है। नारी कहीं समझौतावादी है तो कहीं विद्रोहिणी और कहीं पारिवारिक अनुशासनों में आबद्ध।

हिन्दी छायावाद के बाद एकांकी नाटकों के अस्तित्व में आने को लेकर काफी बहसें हुई जिसमें कुछ विद्वानों ने एकांकी को साहित्य में कोई स्थान नहीं दिया, किन्तु उपेन्द्रनाथ अश्क ने एकांकी को नाटक-कहानी से अलग एक स्वतंत्र विद्या के रूप में मान्यता दी। लगभग 1935-36 तक एकांकी को एक स्वतंत्र विधा के रूप में स्वीकार कर, भुवनेश्वर, डॉ. रामकुमार वर्मा, उदयशंकर भट्ट, उपेन्द्रनाथ अश्क, सेठ गोविन्द दास, जगदीश चंद्र माथुर आदि एकांकी लेखने की शुरूआत कर चुके थे। अश्क चूँकि आकाशवाणी से भी सम्बद्ध थे और रेडियो के लिए ज्यादे अनुकूल था, इसलिए उन्होंने एकांकी लेखन में अपनी प्रतिभा को निखारने के लिए काफी परिश्रम किया। यही कारण है कि हिन्दी एकांकीकारों में अश्क का महत्वपूर्ण एवं विशिष्ट स्थान है। उनके द्वारा रचित एकांकियों में 'देवताओं की छाया में, तूफान से पहले, चरवाहे, साहब को जुकाम है, मुखड़ा बदल गया, पर्दा उठाओ-पर्दा गिराओ, अंधी गली, लक्ष्मी का स्वागत, पापी, सूखी डाली, जोंक तथा आपस का समझौता, इत्यादि प्रमुख हैं। एकांकी लेखन में अश्क ने लगभग जीवन के सभी क्षेत्रों से विषय का चयन किया है। किन्तु मूल रूप से उनकी दृष्टि पारिवारिक जीवन की बदलती परिस्थितियों पर केन्द्रित है। लक्ष्मी का स्वागत, पापी और सूखी डाली, इस दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण है, जिसमें कौटुम्बिक स्थितियों का चित्रण हुआ है। एकांकियों में व्यंग्य का भी सहारा लिया गया है। किन्तु उसका प्रभाव कहीं अधिक है तो कहीं अल्प भी।

हिन्दी आलोचना और निबंध लेखन में भी अश्क ने अपनी कुशलता का परिचय दिया है। हिन्दी के साथ-साथ उर्दू साहित्य में भी उनकी आलोचना का विस्तार हुआ है। उर्दू काव्य की एक नई धारा, हिन्दी कहानियां और फैशन, हिन्दी कहानी: एक अंतरंग परिचय, अन्वेषण की सहयात्रा और आधी जमीन, जैसी आलोचनात्मक कृतियों के

साथ-साथ 'कुछ दूसरों के लिए', छोटी-सी पहचान, खोने और पाने के बीच, जैसे निबंधों की रचना करके साहित्य को समृद्ध किया है, संस्मरणों में 'रेखाएं और चित्र' मंटो : मेरो दुश्मन, फिल्मी जीवन की झलकियां, चेहरे अनेक, के साथ-साथ उनके साक्षात्कार में कहानी के इर्द-गिर्द, आमने-सामने विवादों के घेरे में, इत्यादि प्रमुख हैं।

हिन्दी उर्दू और पंजाबी तीनों भाषाओं में अपनी सर्जनात्मक, छवियों को आकर्षक एवं आधुनिक स्वरूप प्रदान करने वाले अश्क एक संवेदनशील साहित्यकार की भूमिका में आद्यन्त बने रहे। समय और परिस्थितियों के बीच यथार्थ की मजबूत पकड़ से उनके साहित्य में वास्तविकताओं की एक व्यापक जमीन तैयार हुई, जिससे उनका व्यक्तित्व जीवन और साहित्य दोनों में ही खरा बना रहा। विरोधों और विवादों के बीच उनकी रचनाशीलता जारी रही। उससे वे न तो विचलित हुए और न ही भ्रमित। उनका लेखन स्वाभाविक एवं सहज रफ्तार में अनवरत चलता रहा। बेबाक प्रतिक्रिया और सटीक टिप्पणियों के द्वारा एक साहसी साहित्यकार की भूमिका में वे आधुनिक कबीर बने रहे। यही कारण हे कि उनको कभी जोकर कहा गया तो कभी कुछ। किन्तु एक जोकर के रूप में ही सही, अश्क ने जो कहा, वह कहने की ताकत किसी-किसी में होती है। साहित्य में अश्क जैसा वीतरागी साहित्यकार असम्भव नहीं तो दुर्लभ अवश्य है। उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान सम्मान, पंजाब तथा हरियाणा शासन का सम्मान, भारत सरकार का पुरस्कार एवं सोवियत लैंड नेहरू पुरस्कार को प्राप्त करते हुए 19 जनवरी 1996 को समय और समाज का यथार्थ चित्रण करने वाले बहुआयामी रचनाकार अश्क ने हिन्दी जगत को अलविदा कहकर अश्कमय बना दिया।

44–शिव विहार, फरीदीनगर,
लखनऊ–226015

सिनेमा में रंगमंच की परंपरा

संजीव श्रीवास्तव

कवि, उपन्यासकार, फिल्म विश्लेषक, पुस्तक 'समय, सिनेमा और इतिहास' (प्रकाशन विभाग, भारत सरकार से प्रकाशित), 'मुंबई पजल' उपन्यास शीघ्र प्रकाश्य, पत्र-पत्रिकाओं में कविताएं, उपन्यास अंश, समीक्षाएं, फिल्म पर लेख प्रकाशित।

मंच और मनोरंजन शब्द जैसै एक-दूसरे के लिए बने हैं। क्योंकि मंच है तो मनोरंजन है और मनोरंजन बिना मंच के कभी नहीं हो सकता। सिल्वर स्क्रीन भी मंच ही तो है। हाँ, ये कहा जा सकता है कि यह तकनीकी का रंगमंच है, जहाँ अभिनय, नृत्य और संवाद के लिए उपकरण एक आधारभूत साधन है, लेकिन साध्य तक पहुँचने के लिए जिस मूलभूत स्थापनाओं की अहमियत रहती है वह है अभिनयता।

सिनेमा तकनीकी संपन्न होता जा रहा है, इससे कोई गुरेज नहीं है और ना ही यह अविश्वसनीय है, सामाजिक दरकार सिनेमा को रंगमंचीय भी बनाती है तो तकनीकपूर्ण भी। तकनीक युग धर्म का परिचायक भी होता है, जैसे कि कहानी या फिर कहानी कहने या प्रस्तुत करने की कला युग धर्म को प्रतिबिंबित करती है लेकिन अभिनयता को नाटकीयता से दूर कैसे करेंगे। ये तो लंबी परंपरा का हिस्सा है। जैसे कि कहानी समाज के जितनी करीब होगी, उतनी सच होगी उसी तरह अभिनय जीवन के जितना निकट होगा, वह उतना ही सजीव होगा। यही है अभिनय कला का सार्वभौम। राजदरबार का रंगमंच—मुगलकाल में नाट्यकला को उतना प्रोत्साहन नहीं मिला जितना अन्य कलाओं को। इसके कारण मुगलकाल आते-आते भारतीय परंपरा की अभिनय शालाओं और प्रेक्षागृहों का करीब-करीब लोप हो गया। इसमें गति तब आई जब भारत की धरती पर अंग्रेजों का आगमन हुआ। अंग्रेजों के आने का असर मनोरंजन के माध्यमों पर खासतौर पर पड़ा। अंग्रेजों ने अपने समुदाय के मनोरंजन के लिए भारत में विशेष थियेटर विकसित किए। परंपरागत तौर-तरीकों के रंगमंच में बड़ा परिवर्तन किया गया। गौर करने वाली बात है कि पाश्चात्य रंगमंच सबसे पहले बंगाल में आया। और यह अंग्रेजों की बदौलत ही हो सका। कोलकाता में सबसे पहली बार 1854 में अंग्रेजी नाटक का मंचन हुआ था। कोलकाता के नवशिक्षितों के दिलों दिमाग पर इसका गहरा असर पड़ा था। नाटक लोकप्रिय हुआ तो इससे प्रेरित होकर भारतीयों ने भी अपना एक अलग रंगमंच बनाने का विचार बनाया। गौरतलब है कि अब तक भारत में राज दरबारों, मंदिरों में नृत्य समारोह या फिर धार्मिक-पौराणिक कथाभूमि पर आधारित नाटक-संवाद आदि आयोजित होते थे, जहाँ ज्यादातर धनाढ्य भक्त-जन ही प्रवेश पाते थे। आम जनता अब भी इस मनोरंजन से काफी दूर रहती थी। लेकिन अंग्रेजी नाटकों में पारंपरिका नाटकों से इतर विशेषताएं थीं। इसमें संवाद ऊँचे स्वर में बोले जाते थे और शारीरिक भंगिमाओं के संचालन पर विशेष जोर दिया जाता था। दर्शकों को यह बेहत नयनाभिराम लगा। जबकि पारंपरिक भारतीय रंगमंच का आधार गायन और वादन होता था। ये नवीनता और उसका असर देखकर ही भारत में पारसी थियेटर का आविर्भाव हुआ जो अपनी विषय वस्तु और प्रस्तुतिकरण के लिहाज से आगे चलकर लोक रंगमंच भी कहलाया। भारतीय थियेटर की परंपरा में यह नया क्रांतिकारी कदम था। इससे आम जनता का जुड़ाव संभव हुआ। रंगमंच राज दरबार से बाहर निकला। दरअसल यह मानने में कोई असमंजस नहीं कि कम शिक्षित या गरीब जनता कला की शुद्धता को ठीक से समझ नहीं पाती या फिर कला-मनोरंजन को देखने-समझने की उसकी लालसा रोजी-रोटी कमाने की जरूरत से कम जरूरी लगती है। ऐसे में जब पारसी थियेटर की प्रस्तुतियों में मनोरंजन का एक नया रंग देखने को मिला तो सबसे ज्यादा इन्हीं आम दर्शकों को राहत मिली। आम लोगों की ज्यादा से ज्यादा भागीदारी से थियेटर प्रस्तुतियों के संसार में पारसी थियेटर का सिक्का जम गया।

वास्तव में पारसी रंगमंच, 19वीं. शताब्दी के अंग्रेजी रंगमंच के मॉडल पर आधारित था। इसे पारसी रंगमंच महज इसलिए कहा गया क्योंकि इसके पूरे कारोबार से पारसी समुदाय के व्यवसायी जुड़े थे। उन्होंने इस व्यवसाय को पेशेवर तौर पर आगे बढ़ाया।

उन्होंने रंगमंच के कारोबार को पूरी गंभीरता से स्थापित किया और मंचन की एक नई परिभाषा तैयार की। स्टेज की सारे तकनीक बदलने के लिए नए तकनीक ब्रिटेन से मंगवाए गए। इस तकनीक में प्रोसेनियम स्टेज से लेकर बैंक स्टेज तक की सारी मुश्किल से मुश्किल मशीनरी भी लगाई गई। तब जाकर रंगमंच के मनोरंजन का जनपक्ष सामने आ सका।

दो परंपराओं का संगम–वास्तव में यह दो बड़ी परंपरा का अद्भुत संगम था। एक तरफ भारतीय परंपरागत चरित्र और कथा-कहानियां, दूसरी तरफ प्रस्तुति की पाश्चात्य शैली। नाटक का प्रारंभ, विस्तार और अंत इन खूबियों के साथ रचा जाता जो दर्शकों को पूरे रोमांच के साथ आखिरी तब बांधे रखता था। वीरता, पराक्रम, छल, साजिश, बलिदान के अनोखे ताने-बाने से बुने होते थे पारसी नाटक।

पारसी रंगमंच में लोग गीतों, लोकनृत्यों के अलावा हास-परिहास, सस्पेंस, रिश्तों की भावुकता, रहस्य रोमांच और कौतुकता को खूब जगह दी जाती थी। ये प्रस्तुतियाँ पूरी तरह से परंपरागत तौर पर साहित्यिक नहीं होती थीं। इनमें जनरंजन का विशेष ख्याल रखा जाता था और वजह थी कि पारसी थियेटर ने विशिष्ट के साथ-साथ आम लोगों को भी अपनी ओर ध्यान आकर्षित करने में अपार सफलता अर्जित की।

ऊँची आवाज में जोशीले संवाद पारसी रंगमंच की खास पहचान थे। कहानी के अंतिम क्षण में नायक का कुछ कौतुक कर दिखाना, पारसी शैली की विशिष्टता थी। खल चरित्र भारतीय कथानकों में भी पहले से हैं, लेकिन पाश्चात्य रूप के खल चरित्रों ने साजिश के तानाबाना को पारसी थियेटर में और ज्यादा बारीकी से उभारा गया। हर नाटक सत्यमेव जयते के सिद्धांत से प्रेरित होते थे, जिनके अंत में सद्चरित्र नाटक दुश्चरित्र खलनायक पर विजय हासिल करता था। गीत-संगीत तो पारसी थियेटर की जान थे। जहाँ जोशीले संवाद नहीं होते, वहाँ का स्पेस भावुक गीतों से भरा जाता। यों अब तक आल्हा या कव्वाली की शैली में वीर गाथा सुनाने की परंपरा रही है। लेकिन पारसी गीत-संगीत की नई शैली ने आमलोगों का मिजाज बदल दिया। लोकप्रियता बढ़ी तो नए दर्शक वर्ग की तलाश में पारसी थियेटर धीरे-धीरे 'चलित थियेटर' का रूप भी लेता गया। रंगमंच कंपनियाँ शहर-शहर घूम-घूम कर नाटकों का मंचन देश भर में करने लगीं। पारसी रंगमंच में 'मेलोड्रामा' अपना खास महत्व होता था। आज भी तमाम फिल्मों की प्रस्तुतियों में जहाँ-जहाँ मेलोड्रामा है, वहाँ-वहाँ पारसी रंगमंच का तत्व विराजमान है। यह मेलोड्रामा सिनेमा की परंपरा का सबसे खास हिस्सा है। यह सब तब-तक चलता रहा, जब तक सिनेमा का मूक युग सवाक् युग में तब्दील नहीं हो गया। साल 1930 के दशक में ध्वनि रिकॉर्ड करने की सुविधा जैसे ही विकसित हुई फिल्मों में इस नई तकनीक को बिना विलंब किए अपना लिया गया। मनोरंजन माध्यम के क्षेत्र में यह एक नया आविष्कार था। और

सिनेमा के लिए इसे सबसे उपयुक्त समझा गया। आगे चलकर ध्वनि और छायाचित्र के संयोग से फिल्मांकन का सारा स्वरूप ही बदल दिया।

गौरतलब है कि अमेरिका में पहली बार जब फिल्मों में ध्वनि का प्रयोग किया गया, तब उन्हीं दिनों 1928 में चार्ली चैप्लिन ने 'सुसाइड ऑफ सिनेमा' नामक एक लेख लिखा कि 'ध्वनि के प्रयोग से सुरुचिविहीन नाटकीयता के लिए द्वार खुल जाएंगे और सिनेमा की अपनी विशिष्ट प्रकृति इसमें कहीं खो जाएगी।' हालांकि यह चैपलिन जैसे उन महान और दक्ष फिल्मकार के विचार थे, जिन्होंने अपनी फिल्मों में उम्दा अभिनय के आगे ध्वनि की कभी जरूरत ही नहीं समझी। अपनी मूक फिल्मों के गतिशील कथानकों की बारीक प्रभावोत्पादकता से दर्शकों के दिलों तक अपनी आवाज पहुँचाते रहे। लेकिन कला के हर व्यवसाइयों के लिए यह मुमकिन नहीं था। चार्ली चैपलीन के संदेश प्रबुद्ध वर्ग तक ही सीमित रहे और आम जनता तक हल्के फुल्के शब्दों और मनोरंजन के जरिए संदेश पहुँचाने का पारसी थियेटर के कलाकारों का काम जारी रहा। आगे चलकर करीब अस्सी सालों तक पारसी रंगमंच अपने अनेक रूपों से देश भर में मनोरंजन के क्षेत्र में अपना प्रभुत्व बनाए रखा। बोलती फिल्मों के आगमन के साथ ही पारसी रंगमंच ने बाकायदा अपनी सारी परंपराओं को सिनेमा को सुपुर्द कर दिया। पारसी थियेटर के पेशेवर अभिनेता, अभिनेत्रियाँ, गायक, गायिकाएँ, सहयोगी कलाकार, गीतकार, संगीतकार, निर्देशक फिल्म निर्माण से जुड़ते गए। आर्देशिर ईरानी, वाडिया ब्रदर्श, पृथ्वीराज कपूर, सोहराब मोदी जैसे और भी कई दिग्गज कलाकार फिल्म निर्माण के क्षेत्र में शरीक हो गए, और इस तरह पारसी रंगमंच बॉलीवुड के सिनेमा में विलीन हो गया।

पारसी रंगमंच की पहचान–पारसी रंगमंच की चार सबसे बड़ी विशेषताएं कही जाती हैं, जिनका असर ना केवल हिन्दी बल्कि सभी भारतीय भाषाओं की फिल्मों पर भी पड़ा। इनमें पहली विशेषता थी-पर्दों का नायाब प्रयोग। अब-तक परंपरागत भारतीय प्रस्तुतियों में मंच पर बैकग्राउंड दृश्यों के लिए कुछ भी प्रयोग नहीं किया जाता था, लेकिन पारसी व्यवसायियों ने कथाभूमि और उसके प्रसंगों की वास्तविकता का अहसास कराने के लिए मिलते-जुलते दृश्यों वाले पर्दों का इस्तेमाल करना शुरू कर दिया। फिल्मों में जिसे आज बैकड्राप लोकेशन कहा जाता है, तब पारसी रंगमंच में बैकग्राउंड पर्दे उपयोग में लाये जाते थे। ताकि दृश्यों में गहराई और विश्वसनीयता लाई जा सके।

मंच सज्जा के अलावा पारसी रंगमंच में नृत्य, गीत और संगीत का प्रयोग बहुतायत में होता था। फिल्मों में ये प्रवृत्तियाँ आज भी उसी बहुतायतता के साथ विद्यमान हैं। यों भारतीय नाट्यशास्त्र के मुताबिक हमारी संस्कृति में गायन और वादन की परंपरा पहले से रही है। चूँकि गायन और वादन मनोरंजन के सबसे कारगर साधन हैं, लिहाजा पारसी रंगकर्मियों ने इस विशेषता को ज्यों का त्यों रखने में कोई गुरेज नहीं समझा। हाँ, शास्त्रीयता की जगह लोकप्रियता को ज्यादा तरजीह दी जाने लगी, वह भी इसलिए कि ताकि ज्यादा से ज्यादा लोग इसे समझ सकें। साठ और सत्तर के दशक तक पेड़ों के आगे पीछे गीत गाने की परंपरा जारी रही। आज उसके बदले आइटम डांस के गानों ने ले ली है।

पारसी थियेटर परंपरा के दौर में अभिनेता के लिए अच्छे सुर वाला गायक होना काफी बेहतर माना जाता था क्योंकि आधी कहानी तो गानों में ही पिरोई होती थी। फिल्मों में अधिकाधिक गाने पारसी रंगमंच की ही देन हैं। आज पश्चिमी देशों की फिल्मों से गाने भले ही खत्म हो गए हों लेकिन साठ और सत्तर के दशक तक वहाँ की फिल्मों में भी किरदार अपनी भावनाओं को व्यक्त करने के लिए अकेले में गाते-गुनगुनाते हुए देखे जाते थे। चूंकि भारत में गीत-संगीत हमारी मनोरंजन परंपरा का हिस्सा है, लिहाजा जब रंगमंच के कलाकार फिल्म निर्माण की तरफ मुखातिब हुए तो गानों का मोह नहीं छोड़ सके। चाहे कितनी भी हाईटेक विषयों पर फिल्में बन जाएँ, गाने जरूर रखे जाते हैं।

पारसी रंगमंच के कलाकार मंचन के दौरान ज्यादा से ज्यादा चमकदार-भड़कदार पोशाकें पहना करते थे। वस्त्र सज्जा पर खूब ध्यान दिया जाता था। वस्त्र ही नहीं, वस्त्रों के रंग, उसकी डिजाइन, अलंकरण और रूप-सज्जा पर भी विशेष ध्यान दिया जाता था। इसका मकसद था कि जो दर्शक मंच से काफी दूर बैठे हैं उन्हें भी किरदार का चरित्र अच्छी तरह से समझ आ सके। आज फिल्मों में भी अभिनेता-अभिनेत्रियों की पोशाकों पर विशेष ध्यान दिया जाता है। फिल्मों के हर सीन ही नहीं, बल्कि गानों के फिल्मांकन में भी यह ध्यान रखा जाता है कि हरेक पंक्ति पर या हरेक अंतरा के पिक्चराइजेशन पर कलाकार अलग-अलग पोशाकों में नजर आएँ। वास्तव में ये दर्शकों के लिए नयनाभिराम नजारे होते हैं। आँखों को एक राहत जैसी चीज मिलती है। हाँ, इसमें कभी कभार पोशाकों की बदला बदली जरूरत से ज्यादा हो जाती है, जैसे कि 'बर्फी' में देखें तो मंद बुद्धि रणबीर कपूर की पोशाकें न जाने कितनी बार बदलती हैं जिसका कहानी या सीन से कोई लेना-देना नहीं होता है। पारसी रंगमंच की पाँचवी बड़ी विशेषता ऊँचे स्वर में संवाद अदायगी रही है। भारतीय नाट्यशास्त्र के सिद्धांत के मुताबिक मंचन में नाटकीयता जितनी ज्यादा

होगी, दर्शकों को अपनी ओर उतना ही आकर्षित किया जा सकेगा। पारसी रंगमंच में भारतीय नाट्यशास्त्र के इस सिद्धांत को बहुत ही प्रभावोत्पादक तरीके से प्रयुक्त किया जाता था। भड़कदार कास्ट्यूम के अलावा ऊँचे स्वर में संवादअदायगी वक्त की जरूरत थी। चूँकि जो दर्शक दूर, काफी दूर तक बैठे होते थे, उन तक संवाद पहुँचाया जाना था। लिहाजा ऊँचे स्वर में बोलना आवश्यक था। लेकिन ऊँचे स्वर में बोलने के लिए शब्दों को दमदार होना भी जरूरी था। जब तक शब्द दमदार या जोशपूर्ण नहीं लिखे जायेंगे, तब तक संवादअदायगी में भी ओज नहीं आ सकते। संवाद लंबे भी होते थे। छोटे संवाद से पात्रों के चरित्रस्थापन का संकट रहता था। कम शिक्षित समाज के उस परिवेश में जब-तब लंबा संवाद नहीं कहा जाता, तब तक किसी का किरदार आसानी से समझ नहीं आता। संवादों में प्रतीकात्मकता तो होती थी लेकिन उसमें नजीर बताने की कला अधिक से अधिक होती थी। तुकबंदी और अतिश्योक्ति से परिपूर्ण होते थे संवाद।

पृथ्वीराज कपूर की संवादअदायगी को भला कौन भूल सकता है। संवाद कहने की उनकी शैली पारसी रंगमंच की ही देन थी। ऊँचा स्वर ही नहीं, उच्चारण की स्पष्टता, शब्दों के संप्रेषनीयतापूर्ण उचित चयन को वो विशेष तवज्जो देते थे। हिन्दी सिनेमा की मशहूर ट्रेजेडी क्वीन मीना कुमारी के पिता अली बख्श भी पारसी रंगमंच के जाने माने कलाकार थे। मीना कुमारी की माँ प्रभावती देवी (जिनका ताल्लुक रवीन्द्रनाथ टैगोर के परिवार से था और बाद में जिनका नाम इकबाल बानो पड़ा) भी अपने समय की मशहूर स्टेज अदाकार थीं और नृत्यांगना थीं। अली बख्श पारसी रंगमंच में अभिनय करने के साथ-साथ संगीत भी देते थे।

बाद के दिनों तक राजकुमार, प्रदीप कुमार, सुनील दत्त, अजीत, प्राण, प्रेमनाथ, जीवन, अमरीशपुरी आदि अभिनाताओं की संवादअदायगी में पारसी रंगमंच का बेहद करीबी असर देखा गया। यहाँ तक कि हिन्दी सिनेमा के पहले सुपरस्टार के नाम से विख्यात अभिनेता राजेश खन्ना, या फिर पहले एंग्री यंग मैन सुपरस्टार अभिताभ बच्चन की संवादअदायगी पर भी वक्त की नजाकत के मुताबिक पारसी थियेटर की शैली की संवाद-कला का प्रभाव था। हाँ, यह अलग बात है कि इन अभिनेताओं ने उस शैली को अपने खास अंदाज में प्रस्तुत किया जो इनकी विशिष्ट पहचान बनीं। कहना गलत नहीं होगा कि सिनेमा रोबोट युग में प्रवेश कर गया लेकिन पारसी रंगमंच के तत्वों से अब भी अलग नहीं हो सका। हाल की कई फिल्मों में संवाद फिर से काफी जोशपूर्ण होने लगा है।

इप्टा की इबारत–सिनेमा को रंगमंच का क्लोन भी कहा जाए तो कोई गलत नहीं होगा। क्योंकि हमारे सिनेमा ने केवल पारसी थियेटर का ही आकर्षक रूप नहीं धरा अपितु सोच-विचार के समानांतर चलने वाली थियेटर परंपरा के अक्स को भी अपने पर्दे पर उतारा। पृथ्वीराज कपूर पारसी थियेटर में भी काफी सक्रिय थे लेकिन इस दूसरी धारा के थियेटर में भी उन्होंने महती योगदान दिया। उनके अलाव बिजॉन भट्टाचार्य, ऋतविक घटक, उत्पल दत्त, ख्वाजा अहमद अब्बास, सलिल चौधरी, पं. रविशंकर, ज्योतिन्द्र मोइत्रा जैसे कलाकारों की प्रतिभा को दुनिया के सामने लाने का श्रेय इप्टा यानि भारतीय जन नाट्य मंच को जाता है। हिन्दुस्तान की जमीन पर एक तरफ 'अंग्रेजो भारत छोड़ो' आन्दोलन वहीं दुनिया के पटल पर 'द्वितीय विश्व युद्ध' के घनीभूत हो चुके नरसंहार के बादल छाये थे। आजादी की चेतना और अस्तित्व की लड़ाई के बीच समाज के सर्वांगीण विकास के लिए सन् 1942 में उन सांस्कृतिक मंच बनाया गया, जिसका नाम दिया गया-इंडियन पीपुल्स थियेटर असोसिएशन यानि इप्टा। हिन्दी में इसका नाम दिया गया-भारतीय जन नाट्य मंच। हालांकि अब तक सिनेमा जनसंचार का एक बेहतर माध्यम बन चुका था। और कई बड़ी सार्थक फिल्में सामने आ चुकी थीं। लेकिन 'इप्टा' की तरफ से साल 1943 में मुंबई में एक राष्ट्रीय अधिवेशन बुलाया गया और यह प्रतिपादित किया गया कि सिनेमा के साथ-साथ रंगमंच के जरिए भी आम लोगों तक सामाजिक सराकारों और आम जनता के अधिकारों को पहुँचाने की जरूरत है। गरीबी, भुखमरी, महिलाओं की आजादी, दलितों का उत्पीड़न, मुनाफाखोरी और व्यावसायिकता के लिए गैरकानूनी व्यापारों में शामिल रहना, वहीं सांप्रदायिकता आदि का उल्लेख तब के सिनेमा में खूब किया गया है। भारतीय सिनेमा ने आजादी के बाद के दो दशक तक इन सभी सवालों को पूरी प्रखरता के साथ उठाया। चाहे फिल्म की कहानी कोई भी हो उनमें धार्मिक सहिष्णुता और सद्भाव के तत्व को जरूर शामिल किया जाता।

इस दौरान इप्टा की देशभर में जो कमेटी बनीं, वह केवल रंगमंच के लिए नहीं थीं बल्कि सिनेमा और संगीत के लिए भी थीं। अधिवेशन में इस बात पर जोर दिया गया कि रंगमंच, सिनेमा और संगीत को आम जनता के दुख से जरा और करीब होने की जरूरत है। हिन्दुस्तान में मनोरंजन के क्षेत्र में वास्तव में यह एक क्रान्तिकारी पहल थी। जिसका असर बाद में सिनेमा पर भी काफी दिखाई दिया।

इप्टा का उदय भले ही 1942 में हुआ हो लेकिन 1936 में ही प्रतिशील भावनाओं को संगठित होने का मौका दे दिया गया था। प्रगतिशील लेखक

संघ की स्थापना के जरिए समाज के सभी तबकों की तकलीफों और सभी हिस्सों के अंधेरे पक्ष को रौशनी में लाने का विचार सामने आ चुका था। खास बात यह कि पहले लेखक संघ या फिर बाद में इप्टा दोनों ही किसी भी भाषा या क्षेत्र विशेष तक सीमित नहीं था। इप्टा की स्थापना दरअसल प्रगतिशील लेखक संघ के मकसद के विस्तार के लिए ही की गई थी। आगे चलकर इप्टा की गतिविधियों के साथ ना केवल कई रंगकर्मी बल्कि संघ के लेखक भी जुड़ने लगे। इसी क्रम में इप्टा के रंगकर्मियों ने यह महसूस किया कि उन्हें सिनेमा के क्षेत्र में भी अपनी भागीदारी दिखानी चाहिए।

इप्टा से जुड़े फिल्मकारों में कई बड़े नाम हमारे सामने उभर कर आते है। इनमें एक नाम ख्वाजा अहमद अब्बास का भी है। पेशे से पत्रकार अब्बास पहले फिल्म समीक्षा लिखते थे। बाद में पटकथाकार बने। अभिनेता के रूप में पृथ्वीराज कपूर का नाम प्रखर तौर पर सामने आता है। वो सन् 1929 से ही फिल्मों में सक्रिय रहे। पहले बोलती फिल्म आलम आरा में सफल अभिनय करने के बाद लोकप्रिय होने और 1944 में अपना अलग पृथ्वी थियेटर्स की स्थापना करने के बावजूद वो इप्टा की गतिविधियों से जुड़े रहे। उन्होंने पठान, किसान, गद्दार, दीवार जैसे कई बड़े नाटकों में अभिनय किया और एक बेहतर प्रतिबद्ध रंगकर्मी के तौर पर भी जाने गए।

चेतना का विस्तार—साल 1946 में इप्टा के प्रयासों से 'धरती के लाल' फिल्म का निर्माण हुआ। इतना ही नहीं इप्टा से ही जुड़े चेतन आनंद ने 'नीचा नगर' फिल्म का निर्माण किया था। दुनिया के किसी भी बड़े समारोह में पुरस्कृत होने वाली यह पहली भारतीय फिल्म थी। 1946 में ही इप्टा के कलाकारों के सहयोग से वी. शांताराम ने 'डॉ. कोटनीस की अमर कहानी' नाम की फिल्म बनाई थी। लेकिन कालांतर में इप्टा के कलाकारों/फिल्मकारों ने आगे चलकर व्यावसायिक रुख अख्तियार कर लिया। क्योंकि इसके केन्द्र में था—अर्थतंत्र का प्रभुत्व। लेकिन यह कह देना पूरी तरह से गलत होगा कि बॉलीवुड पर इप्टा का रंग नहीं चढ़ा। हाँ, कलाकार अपने-अपने हितों की रक्षा के लिए व्यावसायिक तत्वों के आगे घुटने जरूर टेके लेकिन चेतना से नाता बनाए रखा। समाज में समानता के विचार और उसके अनुरूप रचनात्मकता और कलात्मकता के विचार को भी बनाए रखा। हिन्दी सिनेमा की जिस अवधि को स्वर्ण युग कहा जाता है, उस दौरान जितनी सामाजिक सोद्देश्यता प्रधान फिल्मों का निर्माण हुआ, क्या वो बगैर इप्टा के कलाकारों के सहयोग के संभव था? शायद नहीं।

इप्टा की इबारत केवल हिन्दी जगत तक ही सीमित नहीं रही बल्कि बांग्ला, मराठी, असमिया, तमिल, मलयालम जगत में भी उतनी ही शिद्दत से लिखी गई। हिन्दी में पृथ्वीराज कपूर, व्ही. शांताराम, चेतन आनंद के अलावा महबूब खान, बिमल रॉय, राजकपूर, गुरुदत्त, के बालाचंदर, ऋषिकेश मुखर्जी, जिया सरहदी, मोहन सहगल, रमेश सहगल, कमाल अमरोही, उत्पल दत्त आदि फिल्मकारों ने भी इप्टा की विचारधारात्मक चेतना से युक्त फिल्मों का निर्माण किया। वास्तव में इन फिल्मकारों का प्रयास लोकप्रियतावादी ढाँचे में अपने सामाजिक संदेश को दर्शकों तक पहुँचाना था। यथार्थ को मेलोड्रामाई शैली दी गई। बहुत हद तक ये प्रयास सफल भी हुए।

विचारधारा से भटकाव—इप्टा के इतिहास में हबीब तनवीर, कैफी आजमी, शबाना आजमी, सलिल चौधरी, शैलेंद्र, साहिर लुधियानवी, राजेन्द्र रघुवंशी, बलराज साहनी, भीष्म साहनी, एमएस सथ्यू, फारुख शेख, अंजन श्रीवास्तव आदि कलाकारों, लेखकों के नाम भी बड़े आदर के साथ लिये जाते हैं। लेकिन साठ के दशक बाद सिनेमा में इप्टाई विचारधारा की परंपरा जरा कमजोर पड़ने लगी। सिनेमा में व्यावसायिकता का प्रचलन जोर पकड़ने लगा। फिल्में लोकप्रियतावादी संवेदनाओं के मसालों से लैस होने लगीं। परिवार का ताना-बाना की नाटकीयता बढ़ने लगी। प्रेम और सौन्दर्य की महत्ता बढ़ने लगी। गीत और संगीत में भी प्रेम भावना को खास तरजीह दी जाने लगी। दरअसल यह आजादी के दो दशक बाद का वो दौर था जब लोग कुर्बानियों के दंश को अपने-अपने ध्येय से परे रख कर एक नई दुनिया रचने के लिए तत्पर होने लगे थे। साठ के दशक का सिनेमा इन्हीं ख्वाहिशों को साकार करने का सिनेमा है। और कोई हैरत नहीं कि खुशहाली की इन ख्वाहिशों से लैस सिनेमा हमारे समाज में काफी लोकप्रिय भी हुआ। शायद समाज के मंसूबों को रुमानी अंदाज और शैली की इन फिल्मों में खासी जगह दी गई थी।

दिलीप कुमार, शम्मी कपूर या फिर देव आनंद के नायकत्व के दौर में सिनेमा लोकप्रियता के शिखर को छुआ तो विचारधारा से विलगाव का दौर भी यहीं से शुरू होता हैं। इस दौरान जो भी सामाजिकता दिखी वह मसालेबाजी के साथ। सातवें दशक का सिनेमा धर्मेन्द्र और राजेश खन्ना के परस्पर विरोधी अंदाजों का सिनेमा रहा है। जहाँ एक तरफ चट्टानी ताकतों का अहसास कराने वाला एक्शन का एडवेंचर था, वहीं रूमानियत भरी कहानियों की विरह और मिलन की सुमधुर दुनिया। इस बीच विचारधारा की प्रतिबद्धता जो हाशिये की चीज हो गई उसे एंग्री यंग मैन का किरदार निभाने वाले अभिताभ बच्चन का दौर आने के बाद तहा कर किसी कोने में रख दिया गया।

हालांकि राजेश खन्ना या फिर अभिताभ बच्चन के दौर में भी यदा कदा प्रखर सामाजिकता की विचारधारा जिंदा रही लेकिन अपने लाउड व्यावसायिक शैली में। वहीं नब्बे का दशक तक आते-आते तो नया सिनेमा भी व्यावसायिक हितों को न साध पाने के चलते खत्म हो गया। इसके बाद बहस आम हो गई कि सिनेमाई मनोरंजन को भी क्या थियेटर की तरह ही कमिटमेंट के साथ ही चलाये रखना चाहिए या फिर उसमें जनता के मनोरंजन के लि भी खासे तत्व होने चाहिए ताकि कलाकारों की अपनी दुनिया भी आबाद हो सके। जाहिर है बहस में सिनेमा को लोकप्रिय माध्यम ही मानना पड़ा। थियेटर की कलात्मकता को थियेटर तक ही सीमित रखने की बात सामने आई। क्योंकि हिन्दुस्तानी सिनेमा को दुनिया के सिनेमा से भी मुकाबला करना था। तकनीकि क्रांति से लोहा लेना था। लेकिन इस बात से बिल्कुल इनकार नहीं किया जा सकता हे कि आज भी जब कभी सिनेमा में सामाजिक सोद्देश्यता का झीन ताना-बाना दिखता है तो वह अलख जगाने का श्रेय इप्टा को ही जाता है। लेकिन बात जब विशाल दर्शक वर्ग के बीच लोकप्रियता बटोरने की आती है पारसी रंगमंच की विशेषताएं याद आ जाती हैं। तो सच ही कहा है कि जिस तरह रचनात्मकता का सामाजिकता से रिश्ता कभी खत्म नहीं हो सकता उसी तरह तकनीक का भी परंपरा से कभी संबंध विच्छेद नहीं हो सकता। हाँ, उसकी शैली जरूर बदल सकती है। 'रा वन', 'रोबोट', 'ओ माई गॉड', 'पीके', याकि 'बाहुबली' सबमें समाज के खल को खत्म करने और समाज में बराबरी की चेतना को लाने का संदेश–आज भी उसी तरह विद्यमान है।

37-ए, तीसरी मंजिल, गली नं.-02, प्रताप नगर, मयूर विहार, फेज-1 दिल्ली-110091

नाटक एक जनतांत्रिक विधा है

डॉ. सत्यदेव प्रसाद

(प्रसिद्ध नाटककार मीराकांत से प्राध्यापक डॉ. सत्यदेव प्रसाद की बातचीत)

युवा लेखक डॉ. सत्यदेव प्रसाद दिल्ली विश्वविद्यालय से पीएच.डी. प्राप्त कर इन दिनों प्रेसिडेंसी विश्वविद्यालय (कोलकाता) के हिन्दी-विभाग में सहायक प्रोफेसर पद पर सेवारत हैं। इनकी रचनाएँ विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित।

स्थानः साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली, तिथि : 15 दिसम्बर, 2013

सत्यदेव–आप दशकों से नाट्य-लेखन में सक्रिय हैं। आपकी लेखनी ने स्त्रियों के बारे में काफी कुछ लिखा है। नाटक के 'स्त्री विमर्श' को समाज के स्त्री-प्रश्नों से जोड़कर देखने से समाज को क्या दिशा मिलेगी? क्या नाटक में निहित 'स्त्री-विमर्श' समाज के व्यापक समूह को फायदा पहुँचाने में सक्षम है?

मीराकांत–नाटक में समाज के स्त्री-प्रश्नों को उठाना, असमानता की पितृसत्तात्मक धुरी पर सदियों से टिके समाज में व्याप्त लिंग विभेद और उससे जुड़ी विसंगतियों पर सोचने के लिए दर्शकों-पाठकों को मजबूर करना अन्ततः समाज की मानसिकता में सकारात्मक परिवर्तन लाता ही है। यह समतामूलक समाज की दिशा में बढ़ने के लिए अपने हिस्से का एक छोटा-सा योगदान है। चाहे यह मिथक युगीन सेतु निर्माण में गिलहरी द्वारा निरन्तर रेत-कण पहुँचाने जैसा प्रयास ही क्यों न हो। नाटक या रंगकर्म से रातोंरात कोई क्रांति नहीं आ सकती लेकिन निर्लिप्त लोगों में धीरे-धीरे एक चेतना पैदा की जा सकती है। नाटक या

कहें कि साहित्य का प्रभाव अवचेतन पर पड़ता है और वह बारिश के वक्त धीमी गति से सरसराता हुआ मिट्टी से केंचुओं की तरह निकलकर जरूर आता है। मगर ध्यान देने की बात यह है कि नाटक में निहित स्त्री सरोकार व्यापक और बहुआयामी हों स्त्री के पक्ष की बात प्रायः उसकी देह से शुरू होकर देह पर ही खत्म कर दी जाती हैं नारी देह की मुक्ति और स्त्री-पुरुष संबंधों के फेरे लगाकर हम समझते हैं कि बस इसी से स्त्री-मुक्ति संभव है, और इसी से समाज बदल जाएगा। ऐसा नहीं है। स्त्री की सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, मनोवैज्ञानिक स्वतंत्रता और निर्णयात्मक शक्ति पर बात करनी होगी। और इन सबसे बढ़कर सवाल यह है कि सर्जक की दृष्टि क्या है। पितृसत्तात्मक मूल्य व्यवस्था में आकंठ डूबकर हम स्त्री या उसकी समस्याओं को नाटक में प्रश्न बनाकर तो केन्द्र में खड़ा कर सकते हैं परन्तु वह स्त्री प्रश्न नहीं होगा। सही मायने में स्त्री के पक्ष में लिखे गए सार्थक नाटक अवचेतन पर प्रहार करके मौजूदा स्थिति के प्रति उद्वेलित करते हैं और मानसिकता को सकारात्मक दिशा की ओर ठेलते हैं।

सत्यदेव–एक जगह आपने कहानी-लेखन को 'कोलंबस की यात्रा' कहा है। 'नाटक' को आप किस रूप में देखती हैं?

मीराकांत–नाटक एक लोकतांत्रिक विधा है। इसकी रचना प्रक्रिया के दौरान दर्शक-समूह के साथ का एहसास कहीं अवचेतन में रहता है। इस मायने में नाटक 'कोलम्बस की यात्रा' कतई नहीं हो सकता। नाट्य लेखन एक कठिन विधा है क्योंकि यह सही मायने में अनुशासन है। नाटक में खुद को ज्यादा छोड़ना पड़ता है और उससे भी अधिक खुद को थामे रखता है। तानपूरे के तारों की तरह। यानी तारों को कितना कसें और कितना ढीला छोड़ें कि सुर बेसुरे न हों–यह प्रक्रिया अन्तर्वस्तु, संवादों, अंतरालों और खामोशियों आदि में नमक की तरह घुली रहती हैं। नाटक का सारा कार्य व्यापार भी एक निश्चित समय सीमा के तहत होता है। यह समय सीमा बन्धन से कहीं अधिक रचनात्मकता की कसौटी होती है। यहाँ विचार और विधा एक-दूसरे के साथी होते हुए भी एक-दूसरे पर नजर रखते हैं। कागज पर उतरने से पहले

नाटक को नाटककार के मन की गुफा से गुजरना होता है। यहाँ पात्र निर्धारित वेश-भूषा में अपनी भूमिकाएँ निभाते हैं। यहाँ संगीत होता है, प्रकाश होता है तो नेपथ्य विधान भी होता है। यानी दृश्य-अदृश्य सब कुछ।

सत्यदेव–जब हम नाटक की बात करते हैं तो उससे यह बात सामने निकलकर आती हैं कि हमें समाज से कई रूपों में जुड़ना होता है। नाटक के इस सामाजिक सरोकार पर आपके क्या विचार हैं? दूसरी बात यह है कि अब समाज भी कई रूपों में बदल रहा है। उसकी बदलती सांस्कृतिक बुनावट को आप किस प्रकार देखती हैं?

मीराकांत–ये तो हम सभी जानते हैं कि नाटक एक जनतांत्रिक विधा है। नाटक ही शायद मानव जाति का पहला सशक्त जन-माध्यम है। रंगमंच पर हर ओर अभिव्यक्ति है, सम्प्रेषण है, संवाद है। नाटककार-निर्देशक-अभिनेता का दर्शकों से संवाद, संवादों के बीच आई खामोशियों का संवाद, कहीं मंच-सज्जा दर्शकों से कुछ कह रही होती है तो कहीं पात्रों की वेशभूषा दर्शकों तक कुछ पहुँचा रही होती है। संगीत, ध्वनि-प्रभाव, प्रकाश-व्यवस्था या दृश्य-परिवर्तन की भी अपनी भाषा है। यह प्रत्यक्ष सजीवता नाटक को समाज से सीधे जोड़ती है। परन्तु यह नाटक की सामाजिकता का मात्र तकनीकी पक्ष है। समाज से वास्तविक संबंध या जुड़ाव इस बात में है कि इस माध्यम का सार्थक प्रयोग करते हुए हमने दूसरों तक पहुँचाया क्या। किन सरोकारों को रेखांकित किया, किन संवेदनाओं को प्रस्तुत किया? यह निर्भर करता है नाटककार की सामाजिक-सांस्कृतिक राजनैतिक और मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि पर। और उससे भी अधिक इस पृष्ठभूमि के प्रति उसकी सजगता पर, उसकी दृष्टि पर, उसके विज़न पर। समाज सदा से ही परिवर्तनशील रहा है परन्तु इधर कुछ दशकों में इनकी सांस्कृतिक बुनावट व मूल्य व्यवस्था जिस तेज गति से बदली है वह विचारणीय है। स्त्रियों और दलितों के प्रति सदियों से हुआ अन्याय, मानवीय अधिकारों के लिए उनका संघर्ष समाज के सबसे बड़े सरोकार हैं। फिर साम्प्रदायिक सहिष्णुता, आतंकवाद और विस्थापन, आदिवासी अस्मिताओं का संकट, बच्चों का यौन शोषण, बाजारवाद, उपभोक्तावाद सभी हमारे समय की सामाजिक चिन्ताएँ हैं। आज जरूरत है कि नाटक के माध्यम से समाज की ये चिन्ताएँ, ये सरोकार अधिक से अधिक मंच के प्रकाश में आएँ और दर्शकों से संवाद करें, जिससे सवाल उठें। मगर विजन ही होना चाहिए। जो समतापूरक समाज के हित में हो, मानवता के हित में हो। यानी एक बेहतर दुनिया की संकल्पना हो, 'जो है उससे बेहतर चाहिए' की दृष्टि हो।

सत्यदेव–नाटक और रंगमंच के बारे में कहा जाता है कि इसमें सभी कलाएँ समाहित हैं। फिर भी आप साहित्य की अन्य विधाओं में क्यों लिखती हैं? जबकि आपकी पहचान एक नाटककार के रूप में बन चुकी है?

मीराकांत–ये कौन-सी विधि-पुस्तिका में दर्ज है कि नाटककार अन्य विधाओं में न लिखे! साहित्य के इतिहास में ऐसा प्रायः होता रहा है। विधाओं की गिनती गिनने से कहीं जरूरी यह देखना है कि विभिन्न विधाओं में जो लेखन कार्य हुआ उसमें रचनात्मक सार्थकता कितनी है, उसके सरोकार क्या रहे और एप्रोच क्या अपनाई गई।

लेखन की शुरुआत मैंने कहानियों से की थी। फिर उपन्यास लिखा और उसके बाद नाट्य विधा की ओर प्रवृत्त हुई। वैसे विचार, भाव या संवेदना के स्तर पर रचना की चेतना तो प्रायः समान ही होती है पर हाँ देह धारण करते हुए इसे अलग-अलग साँचों में ढलना होता है। विचार और माध्यम में एक द्वंद्वात्मक संबंध रहता है। इसे चेतना और देह का संबंध भी कह सकते हैं। यह प्रायः रचना की संवेदना का दबाव ही होता है जो हमें विधा विशेष की ओर खींच ले जाता है।

सत्यदेव–विगत साल की घटनाओं को पूरा भारतवर्ष एक बदलाव के रूप में देख रहा है। स्त्री-अधिकारों के प्रति युवा पीढ़ी के द्वारा सोशल-मीडिया में तथा उससे बाहर चलायी जाने वाली मुहिम को आप किस नजर से देखती हैं? क्या इसे स्त्री-सशक्तीकरण के ठोस रूप में देखा जा सकता है?

मीराकांत–इसमें कोई संदेह नहीं कि गत वर्ष एक स्त्री के सामूहिक बलात्कार के खिलाफ जिस तरह देश भर में एक मुहिम चली वह स्वागत योग्य है। युवा वर्ग ने एकजुट होकर प्रदर्शन किए, सरकार पर अपनी नीतियाँ बदलने का दबाव बनाया, समाज में संवाद की स्थितियाँ पैदा हुईं परन्तु यह भी सच है कि इस जागरूकता के बावजूद ऐसी घटनाओं में कमी नहीं आई। अतः ये कदम जागरूकता की एक तात्कालिक लहर जैसे साबित हुए। इसके बावजूद ऐसे प्रयासों का महत्व कम नहीं हो जाता। ऐसे प्रयास ही अन्ततः समाज में सदियों से व्याप्त पुरुषसत्तात्मक मूल्य व्यवस्था को बदलने में सहायक होंगे। स्त्री जितना मर्दवादी फैंस तोड़ने की कोशिश करती है पुरुषों के लिए चुनौती बन जाती है और उसके खामियाजे भुगतने को मजबूर कर दी जाती है। आज जब हम सामाजिक न्याय और समता की बात करते हैं तो उसके लिए पुरुषों की मानसिकता में सकारात्मक परिवर्तन लाने के प्रयास करने होंगे। गाँधी जी कहते थे एक स्त्री को पढ़ाओगे तो पूरा परिवार पढ़ेगा।

अब ये बात पुरानी हो गई है। कहना यह चाहिए कि एक पुरुष को पढ़ाओगे तो पूरा परिवार पढ़ेगा और तभी समाज भी बदलेगा। मगर पुरुष को नयी मूल्य व्यवस्था का पाठ पढ़ाना होगा।

सत्यदेव–कुछ खास नाटककारों तथा नाट्य-समीक्षकों का मानना है कि हिन्दी में मौलिक नाटकों की कमी नहीं है। काफी सारे हिन्दी के मौलिक नाटक प्रकाशित हुए हैं लेकिन वे रंगमंच पर अभिनीत नहीं हो रहे। इसकी वजह क्या है?

मीराकांत–यह बहुत ही शुभ संकेत है कि कुछ नाट्य-समीक्षकों का यह मानना भी है कि मौलिक नाटकों की कमी नहीं है। असल में राजनैतिक संरचना या शासन व्यवस्था जैसे मानव संबंधों और जीवन मूल्यों को प्रभावित करती है वैसे ही साहित्य को भी करती है। फिर नाटक तो स्वयं में ही एक लोकतांत्रिक विधा है। हमारी शासन व्यवस्था में जिस अनुपात में मूल्य मौजूद हैं और जिस अनुपात में उस प्रपंच का प्रचार है कमोबेश रंगमंच की दुनिया का भी यही सच है। कैसी विडंबना है कि रंगमंच की दुनिया में प्रभुवर्ग नगाड़े बजवा-बजवा कर यह घोषणा करवा रहे हैं कि हिन्दी का मौलिक नाटक मर गया। इस बिन्दु पर एक आम नाटककार उसी प्रकार स्वयं को अवश पाता है जैसे सत्ता के सामने एक आम आदमी।

जहाँ तक नाटकों के मंचन का प्रश्न है तो उसके लिए पूरी व्यवस्था और मजबूत आर्थिक आधार की जरूरत होती है जो प्रायः नाटककारों के पास नहीं होता जब तक कि वे स्वयं निर्देशक न हों या किसी ऐसी सरकारी या गैर-सरकारी संस्था से जुड़े न हों जो नाटक करवाती हो। निजी व्यावसायिक संस्थाएँ ज्यादातर उन्हीं नाटकों को पसन्द करती हैं जो प्रहसननुमा हों या जिनमें 'मनोरंजन' का तत्व प्रधान हो। जैसे हमारी दुनिया पुरुषसत्तात्मक दुनिया है, वैसे ही रंगमच की दुनिया निर्देशक सत्तात्मक है। कई दिग्गज निर्देशक तो नाटक के मंचन के समय नाटककार का नाम तक लेने की जरूरत महसूस नहीं करते। वे भूल जाते हैं कि अगर उस नाटक के लिए वे यशोदा की भूमिका निभा रहे हैं तो नाटककार उनसे पहले देवकी है। ये क्या कम है कि इस सबके बावजूद नाटक लिखे जा रहे हैं!

जिन नाटकों का मंचन हो रहा है वे या तो वही पुराने चर्चित नाटक हैं जो सालों से, बल्कि कहना चाहिए कि दशकों से मंचित हो रहे हैं। या फिर अनूदित नाटक अधिक खेले जाते हैं जो कई बार मंचित हो चुके हों क्योंकि निर्देशकों के लिए उन्हें मंचित करना तुलनात्मक रूप में आसान होता है। बार-बार मंचित नाटकों को किसी नए प्रयोग के साथ मंचित करना, नई शैली में प्रस्तुत करना भी अवश्य प्रशंसनीय है पर यह कितना हो पाता है! कितने लोग करते हैं ऐसा! तो मौलिक नाटक के मंचन में जो चुनौती है वह निर्देशक से रचनात्मक संघर्ष और श्रम की भी माँग करती है। जाहिर है यह रास्ता थोड़ा कठिन है।

सत्यदेव–आपके लेखन में कश्मीर की रूहानियत झलकती है जिसे आपके नाटक, कहानी और उपन्यास में देखा जा सकता है। क्या आप यह पाठकों को बता सकती हैं कि आपके समय का कश्मीर और वर्तमान कश्मीर में कितना फर्क आ गया है?

मीराकांत–तब और आज के कश्मीर का जो फर्क है उस पर मैंने बार-बार लिखा है और भविष्य में जब भी मौका मिलेगा और लिखना चाहूँगी। आतंकवाद और उससे उपजे विस्थापन ने आज के कश्मीर का चेहरा विकृत कर दिया है। उसकी आत्मा रो रही है आतंकवाद की वजह से। हमारी संस्कृति, हमारी भाषा, हमारी कश्मीरियत सूख रही है। जो विस्थापित हैं वो अपने घर, घाटी की अपनी खुशबू, पीछे छूट गयी खुशियों को तरसते हैं और जो घाटी में रह रहे हैं वे आतंक, असुरक्षा और अनिश्चय की काली छाया में जी रहे हैं। युवा वर्ग प्रायः बेरोजगार है। शिक्षा और स्वास्थ्य सुविधाओं की कमी है। कुछ युवा गुमराह भी हैं। बच्चियाँ असुरक्षित हैं। पूरी डल को राजनीति के रंग में रंगने की कोशिशें लगातार जारी हैं।

विस्थापन की बात करें तो विस्थापन मानव मूल्यों और पूरे मानव समाज को प्रभावित करता है। यह जीवन की सोच का पैटर्न बदल देता है। अपनी जमीन से, अपनी जड़ों से उखड़ों में औरतों को यह निर्वासन का दर्द दोगुनी-चौगुनी मात्रा में सहना होता है क्योंकि उसकी नींव में होता है समाज से मिला उसके औरत होने का दर्द और संघर्ष। हर मुसीबत की मार औरत के लिए ज्यादा मारक होती है।

सत्यदेव–आपके नाटकों में पुरुष पात्रों की अपेक्षा महिला पात्रों को ज्यादा अहमयित दी गई है। इससे साबित हाता है कि आप स्त्री-विमर्श की सशक्त रचनाकार हैं। क्या आप यह बता सकती हैं कि 'स्त्री-चरित्रों को गढ़ने में आप किस तरह की रचनात्मकता का उपयोग करती हैं?

मीराकांत–स्त्री-चरित्रों को गढ़ने में पुरुष-चरित्रों से अलग रचनात्मकता का प्रयोग किया जाता हो–ऐसा नहीं है। नाटक के हर पात्र का अपना महत्व है। ये एक लम्बी शृंखला की कड़ियों के समान होते हैं जहाँ छोटी-बड़ी हर कड़ी आपस में गुँथ कर एक-दूसरे के सहारे शृंखला को आगे बढ़ाती है। कभी-कभी युग विशेष को सस्पंद बनाने के लिए या पात्रों की सामाजिक-सांस्कृति पृष्ठभूमि को ध्यान में रखते हुए चरित्रों

की वेशभूषा, व्यवहार, भाव भंगिमाओं, संवाद में भाषा व शब्द-चयन आदि के संदर्भ में कुछ अध्ययन या शोध भी करना पड़ता है। प्रयास यह रहता है कि हर पात्र अपने समय और स्थिति विशेष की एक जीवन्त उपस्थिति बनकर उभरे। संवेदना या भाषा के स्तर पर वह नाटक में पैबन्द न लगे। स्त्री पात्रों के लिए अलग किस्म की तैयारी नहीं की जाती है, अहमियत तो उन्हें नाटक की अन्तर्वस्तु के कारण मिलती है।

सत्यदेव–मिथक आधारित लेखन के प्रति आपका उद्देश्य क्या है?

मीराकांत–जाने क्यों इस प्रश्न का सामना मुझे हर गली, हर मोड़ पर करना पड़ा है। कुछ लोग यह सवाल जिज्ञासावश करते हैं तो कुछ आपत्ति जताने के लिए। आपत्ति जताने वालों का मानना है कि मिथक का प्रयोग कर मैं समसामयिक विषयों से बचती हूँ। परन्तु मैं उनसे कतई सहमत नहीं हूँ। मैंने बार-बार यही जवाब दिया है कि मिथक के रिवर्स गियर में जाकर मैं गाड़ी को समसामयिकता के ठिकाने तक ज्यादा सरलता से ले जा पाती हूँ। मेरा नाटक 'नेपथ्य राग', 'कन्धे पर क्यों क्या बैठा शाप', 'उत्तर-प्रश्न' इसके उदाहरण हैं। क्या समसायिक विषयों पर लिखने वाले हमेशा प्रगति की राह पर ही बढ़ रहे होते हैं? असल में जीवन आधारित है दृष्टि-भेद पर। पीछे मुड़कर देखना भी अगर एक दृष्टि से सम्पन्न हो तो कुछ जोड़ता है। 'आज' से मुँह नहीं मोड़ता। संदर्भ तो 'आज' ही रहता है। काल अनन्त है और मिथक की यह विपर्यस्त यात्रा हमारे आज को कल का पता देती हैं जिससे आने वाले कल को हम संभाल सकें।

संपर्कः हिन्दी विभाग, प्रेसिडेंसी युनिवर्सिटी,
कॉलेज स्ट्रीट, कोलकाता (पश्चिम बंगाल)

कहानी

वेलकम सुनन्दा

जसविंदर शर्मा

स्वतंत्र लेखन। 8 किताबें प्रकाशित। हरियाणा राज्य से साहित्य अकादमी पुरस्कार एवं सहारा कथा पुरस्कार प्राप्त।

एक सप्ताह में दूसरी बार दीपक की गेट पर ड्यूटी लगाई गयी थी। उसने गेट के पास खड़ी 'दसवीं ए' तथा 'आठवीं बी' की मानीटर से पूछा, "रोज-रोज मेरी ही ड्यूटी क्यों लगती है?" तो वे लड़कियां कंधे उचकाकर 'हमें क्या पता, सर' कहकर संजीदा हो गयी। टहलते हुए दीपक सोचने लगा कि आज छात्र-छात्राओं को प्रार्थना सभा से अपनी-अपनी कक्षाओं के लिए वापस आने में देरी क्यों हो रही है? जरूर प्रिंसिपल मैडम उन्हें भाषण पिला रही होगी... ईमानदारी, कर्तव्य, अनुशासन और न जाने क्या-क्या। जबक वह खुद इस सबसे विपरीत आचरण वाली महिला है। नया बच्चा चाहे कितना ही फिसड्डी क्यों न हो, उसे देखते ही वह अपने स्कूल में दाखिला देने के लिए लालायित हो जाती है। लार टपकाते हुए कहती है, "ट्रांस्फर सर्टिफिकेट बाद में दे देना, पहले दाखिला ले लो, बहुत कम सीटें बची हैं।'

सभी जगहों से धकियाए हुए इन 'अनवांटेड' बच्चों को पढ़ाना तो क्या कक्षा में बिठाना तक मुश्किल हो जाता है। उनकी पिटाई करते-करते हाथ दुखने लग जाते हैं। डाँट-डाँटकर गला सूखने लगता है। सबके सब हरामी है–छँटे हुए, एक से एक नमूना। जैसे बर्तन उल्टे रखे होते हैं, जितना चाहे उन पर पानी उँडेलते रहो, कुछ भी नहीं टिकता। अधिकांश तो हफ्ता-हफ्ता स्कूल ही नहीं आते।

इनके माँ-बाप को भी प्रिंसिपल मैडम शर्मसार कर देती है। अक्सर कहती है, "देखिए, आपसे फीस लेने को हक तो नहीं बनता, जब बच्चों को हम कुछ दे ही नहीं पाते। माँ बाप को अच्छी-खासी शर्म आ जाती है कि वे इन बच्चों को इतना कंट्रोल नहीं कर पाते कि बच्चे कम से कम स्कूल में समय पर पहुँच जाएँ। इधर-उधर आवारागर्दी न करें। इस शर्म और अपराधबोध का अहसास करवाकर बड़ी सफाई से प्रिंसिपल मैडम अपनी जिम्मेवारी से बच जाती हैं। बच्चों के माँ-बाप के पास न टाइम है, न इतना ज्ञान। इन में ज्यादातर छोटे-मोटे दुकानदार, छोटे तबके के मुलाजिम या ट्रांस्पोर्ट वाले हैं। इनके साथ अंग्रेजी में गिटपिट करके बड़ी दिलेरी से प्रिंसिपल मैडम भारी फीसें झपट लेती हैं। घाघ है पूरी, मगरमच्छ कहीं की।

बी.एस.सी. करते समय दीपक ने कभी सपने में भी नहीं सोचा था कि इस फटीचर स्कूल की पाँच हजार की मास्टरी ही उसका नसीब होगी। पिताजी ने कितनी जुगत और मेहनत से फीसें भर-भर कर उसे सबसे बेहतरीन कॉलेज में भेजा था और दीपक ने भी मेहनत करने में कोई कसर नहीं छोड़ी थी। असली दिक्कत तो डिग्री लेने के बाद आई। रिश्वत व सिफारिश के बिना नौकरी नहीं मिलती थी। हर तरफ सरकारी नौकरियों में अन्य जातियों के लिए आरक्षण था। ऐसे में उसे नौकरी मिलना लाटरी में जैकपॉट लगने जैसा था। बी.एड. करने के लिए भी लाख रुपयों की डोनेशन देनी पड़ती थी। इसीलिए वह पिछले दो सालों से इसी स्कूल में टिका हुआ था।

स्कूल क्या है पूरा कबूतरखाना है। कनाल की दो मंजिला कोठी में दसवीं तक का स्कूल ठूंस रखा है। हर क्लास में तीन चार सैक्शन हैं। आठ बाई दस के नीची छत के अंधेरे बन्द, बदबूदार, सीलनभरे, दड़बानुमा कमरे हैं। छोटी-छोटी बैंच हैं ताकि ज्यादा से ज्यादा बच्चे बैठ सकें। स्कूल बाजार के ठीक बीचोंबीच है। गली में पूरा दिन खोमचेवालों की टक-टक। आइसक्रीम व सब्जी बेचने वालों की रागात्मक गुहारें, रद्दी खरीदने वालों की उभरती कर्कश तानें, स्कूटरों व रिक्शाओं की चिल्ल-पों तथा साथ लगती कक्षाओं से लगातार आने वाले शोर को सुनकर दीपक को शुरू-शुरू में लगता था कि वह पागल ही हो जाएगा मगर अब वह यह सब सुनने का आदी हो गया है। इस स्कूल में वह उस तरह न खप सका जैसे मैथ सर या हिन्दी वाले कपूर साहब। यहाँ वह किसी से नहीं जुड़ पाया था।

हां, सुनन्दा से जरूर जुड़ा था वह। सुनन्दा ने उससे छह महीने पहले ही यहाँ ज्वाइन किया था। खाते-पीते परिवार की थी। बी.एड. करने का इरादा

था उसका। यहाँ तो शगल के तौर पर टिकी थी। सुनन्दा जितनी ज्यादा सुन्दर थी उतनी ही खुले दिल की, तेज-तर्रार, समझदार, हाजिरजवाब और हँसमुख थी। हर किसी से खुलकर मजाकर कर लेती थी। प्रिंसिपल मैडम का तो उसने नाम ही प्रिंसी रखा हुआ था। कितना जँचता था उसके मुँह पर यह शब्द। और देखते ही देखते सारा स्टाफ व बच्चे प्रिंसिपल मैडम को इसी नाम से जानने-बताने लगे थे। दीपक के साथ सुनन्दा को गहरा लगाव हो गया था।

उस दिन दीपक और सुनन्दा जीरो पीरियड में दसवीं के मिड-टर्म का सिलेबस डिस्कस कर रहे थे। दीपक बोला, "सुनन्दा, तुम तो जल्दी ही यह स्कूल छोड़ जाओगी। यहाँ की याद नहीं आएगी।"

सुनन्दा ने गजब हाजिरजवाबी दिखाते हुए कहा, "तुमने मुझसे ऐसा कुछ खास कहा भी नहीं कि कोई बात याद आए।"

दीपक सकपकाते हुए बोलो, "अगर मैं कुछ कहूँ तो क्या तुम उस बात को उस 'स्पिरिट' से लोगी?"

"शायद लूँ, पहले तुम हिम्मत तो करो।"

"मुझे विश्वास है कि तुम्हें वह बात पता ही है।"

"मुझे तो तुम्हारे बारे में बहुत-सी बातें पता हैं मगर मैं तुम्हारे मुँह से भी कुछ सुनना चाहती हूँ।"

"कई बार तुम मुझसे इतना प्यार से बात करती हो कि मुझे लगता है कि तुम मेरे बहुत करीब हो मगर कभी कभी मुझे झटक कर दूर फैंक देती हो। मैं अपने प्रति तुम्हारी सही भावनाएँ समझ नहीं पाया हूँ।"

"अपने दिल की आवाज सुनोगे तो हर बात साफ हो जाएगी।"

"मेरा दिल आजकल मेरे काबू में नहीं रहा। वह तुम्हारी कही हुई बातों की व्याख्या आज कुछ करता है, तो कल कुछ और।"

"सबके सामने चाहे मैं कोई मजाक वाली बात कह दूँ मगर मेरे मन में तुम्हारे लिए एक खास जगह है। तुम इतने जीनियस हो। अपने घर पर ही कोई कोचिंग सेंटर क्यों नहीं खोल लेते। यह स्कूल तुम्हें क्या दे पाएगा।"

"मैं अकेला क्या कर पाऊँगा? तुम मेरा साथ दो तो फिर कुछ सोचा जा सकता है।"

"जिस दिन मैं बी.एड. कर लूँगी, सबसे पहले तुम्हारे पास आऊँगी। तब देखते हैं तुम्हारा क्या फैसला होगा।"

सुनन्दा स्कूल छोड़ गई। फिर उससे मिलना नहीं हो पाया। उसे तीन सौ मील दूर एक कॉलेज में बी.एड. की सीट मिली थी। बहुत दिनों तक दीपक उसकी यादों में उड़ता रहा मगर कहाँ वह और कहाँ सुनन्दा। दोनों के परिवारों की आर्थिक स्थितियों में बहुत अन्तर था। दीपक सुनन्दा की इन्तजार करता रहा मगर उसका कहीं कोई पता न चला। कई बार उसने सोचा कि सुनन्दा के घर जाकर पता लगाए मगर बेइज्जत होने के डर के मारे हिम्मत न कर पाया। अब उसका भविष्य क्या था–यही बेकार-सा प्राइवेट स्कूल।

स्कूल में उसे सिर्फ दुकानदारी ही नजर आती थी। पढ़ाई तो बस नम्बर हासिल करने के लिए की जाती थी। प्रिंसिपल मैडम भी इस बात पर जोर देती थी कि बार बार रिवाइज करवाइए। नम्बर अच्छे आने चाहिए। हर तरफ कुंजियों व गाइडों का जोर था। स्कूल में सबसे अधिक जिस बात पर जोर दिया जाता था, वह था साफ-सफाई और अनुशासन। लेट आने या गैर-हाजिर होने पर दंड था–जुर्माना। इतना ही नहीं, होम वर्क न करने पर, स्कूल के टेस्ट न देने पर या खास कुंजी या गाइड को न खरीदने पर भी दंड लगाया जाता था। इससे स्कूल की अच्छी आमदनी हो जाती थी और बच्चों के माँ-बाप पर रौब भी अच्छा पड़ता था।

हरेक टीचर की बारी-बारी गेट पर ड्यूटी लगती थी। साथ में सहायक के तौर पर दो कक्षाओं के मानीटर नियुक्त होते थे। प्रार्थना सभा थोड़ी दूर म्यूनिसिपल के उजाड़ वीरान पार्क में होती थी। प्रार्थना के बाद बच्चे लाईनें बनाकर स्कूल भवन में प्रवेश करते थे।

हरेक बच्चे की विस्तृत चैकिंग होती थी। एक मोटे-से रजिस्टर में नाम तथा क्लास लिखने के बाद 'जुर्माना' कालम में हर रोज का फाइन लिखा जाता था। जो बच्चे लेट आते थे या स्कूल की यूनिर्फाम के रख-रखाव में कोताही बरतते थे उनसे ऐसे हरेक जुर्म के लिए एक रुपया जुर्माना वसूला जाता था। मसलन जेब में साफ धुला हुआ रूमाल नहीं या पाँव में काले जूते नहीं, नीली जुराब नहीं या स्कूल की टाई-बैल्ट नहीं तो हरेक ऐसे कसूर का एक रुपया नकद जुर्माना। ये फाइन नकद देने वाले के नाम के आगे टिक लगा दिया जाता। न देने वालों को धमकाया जाता। जुर्माना देकर ही इस झंझट से मुक्ति मिलती थी। जुर्माना वसूलने वाले इस नाके पर ड्यूटी लगने वाले दिन दीपक बहुत उदास और खिन्न रहता था। बच्चे बेचारे घर से मिन्नत चिरौरी करके खाने-पीने के लिए कुछ पैसे लाते थे और स्कूल के लालची भेड़िये किसी न किसी बहाने उनसे ये पैसे झपट लेते थे।

आज कक्षाएं वाकई लेट थी। दीपक सोचने लगा कि क्या कारण हो सकता है। अच्छा, आज पाँच सितम्बर है– शिक्षक दिवस। उसे याद आया। अब शिक्षा की सरे-आम बोली लगती है।

आज शिक्षक के पास भाषण देने व बच्चों को कोसने के सिवा और क्या है। प्रिंसी आज खूब चहक रही होगी। दस बीस रुपए हरेक बच्चे से मँगवाए होंगे। पिछले महीने महंगी लग्जरी कार जो खरीदी है उसने। सारा खर्च यही से तो पूरा करना है उसे। फिर प्लस-टू तक स्कूल भी अपग्रेड करवाना है उसे। लाखों की रिश्वत देनी पडेगी। गेट चैकिंग से हर रोज हजार रुपए से ज्यादा की आय हो जाती है उसे। सब उसकी जेब में ही जाते हैं। फीसें भी इतनी हैं कि पूछो मत।

तभी दीपक को पहली क्लास स्कूल के गेट की तरफ आती दिखाई दी। दोनों मानीटर लड़कियाँ चौकस हो गई। गेट को आधा बन्द कर दिया गया। एक मानीटर आने वाले बच्चों के 'हैन्की', 'टाई', 'हेयर बैंड' आदि जाँचने लगी। यह सब ठीक होने पर उनके हाथों के नाखून देखे जाते। कई बच्चों के मुँह खुलवाकर दाँतों का निरीक्षण भी किया जाता। हरेक बच्चे में कोई न कोई कमी तो मिल ही जाती थी। दूसरी मानीटर रजिस्टर में फटाफट दोषी बच्चों के नाम लिखती जाती थी और नकद पैसे बटोरती जाती थी।

तभी दीपक ने देखा कि छोटी कक्षा के एक गरीब घर के लड़के ने रुमाल दिखाने के स्थान पर बड़ी मुश्किल से जेब में से एक रुपए का सिक्का निकाल कर अपनी हथेली पर रखा और कातर दृष्टि से मानीटर की तरफ देखा, जिसे उसे चुडैल मानीटर ने बेरहमी से उठा लिया और वह गुस्से में बोली, 'बिना जुराब के स्कूल आए हो। जुर्माने का एक रुपया और निकालो।'

दीपक का दिल पसीज गया। उसने आगे बढ़कर उसे लड़के के गाल थपथपाकर और एक रुपये का सिक्का उसे वापिस करवा दिया। पता नहीं उसके मन में क्या आया कि वह जोर से बोला, 'आज टीचर्स-डे है। आज किसी को जुर्माना नही भरना पडेगा।'

दोनों मानीटर घबराकर, हैरान-सी होकर पीछे हट गई। दूसरा गेट खोल दिया गया। बच्चे खुशी-खुशी भागते हुए कक्षाओं की तरफ लपके।

ब्लूम माडल स्कूल के इतिहास में यह घटना पहली बार हुई थी कि बिना फाइन भरे बच्चों को अन्दर आने दिया गया हो। एक बार तो दीपक भी सहम गया कि इस हिमाकत के कारण कहीं प्रिंसी उसकी स्कूल से छुट्टी ही न कर दरे, मगर अगले ही पल बच्चों को खुशी-से अन्दर जाते देख उसने महसूस किया कि वाकई जिन्दगी में पहली बार उसने हिम्मत का कोई काम किया है।

लगभग पन्द्रह मिनट बाद दीपक प्रिंसिपल के कमरे में खड़ा था। प्रिंसी उसे बुरी तरह डाँट रही थी। दीपक समझ नहीं पा रहा था कि क्या कहे। उसके अन्दर आक्रोश की ज्वाला धधक रही थी मगर हालात ने उसकी जुबान को बन्द रखने पर मजबूर कर दिया था। प्रिंसी ने दहाड़ मारी, 'बोलो, अब कौन रखेगा तुम्हें अपने पास। आई एम सॉरी, मैम। '

'बट आई एम नाट सॉरी, प्रिंसी। आई हैव कैप्ट माई प्रामिस। मैंने कहा था न कि बी.एड. करते ही मैं सबसे पहले तुम्हारे पास आऊँगी।'

प्रिंसी ने सुनन्दा को अन्दर आते देख अपना मूड बदलकर शालीनता से कहा, 'वेलकम सुनन्दा। अभी-अभी दीपक के जाने पर एक पोस्ट खाली हुई है। तुम अभी और इसी वक्त ज्वाइन कर सकती हो।'

सुनन्दा ने कुटिल नजरों से प्रिंसी को देखते हुए कहा, 'नो प्रिंसी डियर, मैं मिस्टर दीपक से मिलने आई हूँ। लेट् अस गो, मैन।'

दोनों ने धीरे-धीरे प्रिंसी के कमरे की चौखट पार की और बाहर निकलकर तो उनकी चाल को मानो पंख लग गए थे।

205, जी एच -3 सैक्टर-24,
पंचकुला-134116 हरियाणा

कहानी

स्वप्नजीवी

बल्लभ डोभाल

लेखक जाने-माने साहित्यकार हैं। 'तिब्बत की बेटी' प्रसिद्ध उपन्यास। दो कविता-संग्रह, 12 कहानी संग्रह, तीन संस्मरण विशेष रूप से प्रसिद्ध हुए। अध्यात्म धर्म दर्शन पर तीन पुस्तकें और छह पुस्तकें बाल-साहित्य पर। कुल 36 पुस्तकें प्रकाशित।

मैं ही लौट आया हूँ उस वातावरण से दूर।.... लेकिन आश्चर्य है कि अपने से सटी चीज के बारे में आदमी एकदम अनजान रहे, और जब वह छिटक कर दूर हो जाए तब उसके निकट होने का एहसास बना रहे।

मुझे लगता है कि आज भी राधिका मेरे पास बैठी बातें कर रही है। जब-जब उससे मुलाकात होती, वह एक ही बात कहती। उसका कहना कि अब मैं जीना नहीं चाहती। बार-बार मेरा भी उसे समझाना कि मरने से कौन-सी समस्या हल हो जाएगी। समस्याओं का हल जिन्दा रहकर ही खोजा जा सकता है।

मैं किसी गलतफहमी में न रहूँ, सोचकर उसने पहले ही स्पष्ट कर दिया था कि वह स्वयं को समर्पित कर चुकी है और अपने कन्हैया के अलावा किसी की हार्दिकता स्वीकार नहीं कर सकती। कन्हैया के प्रेम ने उसे मैरी से मीरा बना दिया था। फिर जब मालूम हुआ कि प्रेम में मीरा से राधिका का स्थान कहीं बढ़कर है तो उसने अपना नाम राधिका रख लिया। तभी पता चला कि उसके कन्हैया को किसी कारणवश नेपाल में रुकना पड़ा है।... और अब वह जल्दी यहाँ पहुँचने वाला है।

कन्हैया की जुदाई में राधिका का दुखी होना आस्वाभाविक नही लगा। रंगीन छींट के घाघरे पर सलमे-सितारे जड़ी-चोली ने उसके रंग-रूप को निखार दिया था। उसके मिलने का कोई समय निश्चित नहीं। सड़क किनारे किसी मोड़ पर, जंगल के आस-पास, या नदी किनारे किसी पत्थर पर उसे अकेले बैठा देखा जा सकता है। उसके बहुत से साथी अब यहाँ आ चुके हैं। जंगल के बीच अथवा नदी के एकान्त किनारे रात के अँधेरे में जब चिलम के ऊपर बित्ता भर जोत उगती है तो समझते देर नहीं लगती कि कृष्ण वेशधारी हिप्पियों ने वहाँ अपनी द्वारिका बसा ली है। कभी चाँदनी रातों की नीरवता को भंग करती गिटार की पिंग्-पिंग् मन-प्राणों में सोई धड़कनें जगाती है तो कभी बाँसुरी की धुन कानों में रस घोलने लगती है। यहीं राधिका को पहली बार मैंने देखा। तब वह सड़क के किनारे हवाघर के भीतर बैठी गिटार के तारों को सम में लाने की कोशिश कर रही थी और हवाघर से काँपती स्वर-लहरियाँ तितलियों की तरह एक से आगे एक बढ़कर अंधेरे में विलीन होती जा रही थी, लगा जैसे अंधेरे को स्पन्दन मिल रहा है। टार्च बढ़ाकर मैंने हवाघर के भीतर झाँकना चाहा कि एक हल्की चीख कानों में आ पड़ी। अभिप्राय यह कि रोशनी की जरूरत नहीं है। रोशनी की चकाचौंध से घबराकर ही ये लोग यहाँ अँधेरे कोनों की तलाश में निकले हैं। इन ठंडी और एकान्त घाटियों में निर्द्वन्द्व विचरण का सुख अपनी ही तरह का है। इन लोगों से सम्पर्क के बाद अच्छी तरह समझ में आ गया कि सुख नाम की चीज केवल सम्पन्नता में नहीं, यह व्यक्ति पर निर्भर करता है कि वह कहाँ से कितना कुछ ले पाता है।

देर तक हवाघर के पास खड़ा मैं वह संगीत सुनता रहा। पहाड़ की उस विरल आबादी में प्रायः रोज दिखने वाले चेहरे ही बार-बार नजर आते। चीजें नपी-तुली और कायदे से रखी मालूम देती हैं। थोड़े लोगों के बीच हर चीज का अस्तित्व और अलग पहचान बनी रहती है।

इधर कुछ समय से यह सब बात मन में जमती जाती है कि अभाव और तंगदस्तियों का जीवन सुविधाओं के जीवन से कुछ कम नहीं। यहाँ भी तपते मौसम में भीतर तक गुदगुदाने वाली ठंडक तन-मन को कितना सुख दे जाती है। सुबह-शाम सूरज की किरणें बर्फ लदी पहाड़ियों में रंग भरती हैं तो आँखों को मनचाहा सुख मिलता है। आसपास जंगलों से छनकर आती महकती बयार को लम्बी साँसों द्वारा फेफड़ों में भर लेता हूँ। तब समूचा वातावरण मन को आश्वस्त करता है। शहरों का अनर्गल शोर कानों में नहीं पड़ता। आदमी को कुन्द कर देने वाली घोषणाएँ, हत्या-बलात्कार के समाचार यहाँ नहीं बिकते। गली-मोहल्लों की तंग सड़कों पर तेज रफ्तार जिन्दगी की भीड़ से टकराकर अकाल-मृत्यु का भय यहाँ नहीं।

गाँव के किनारे चाय की दूकान के आगे एक टूटी-सी बेंच... कभी इक्का-दुक्का आदमी उस पर बैठा दिख जाता है। सुबह-शाम, चाय-नाश्ते से लेकर खाने की तंग व्यवस्था के बावजूद कितनी तृप्ति यहाँ मिल जाती है।

इसी दूकान पर अगली शाम राधिका से मुलाकात होती है। एक हाथ में गिटार और दूसरे हाथ की उँगलियों के बीच सुलगती लम्बी सिगरेट... धुएँ की तीखी लपट बता रही थी कि उसमें चरस की मात्रा जरूरत से ज्यादा भरी गई है। राधिका लगभग झूमने की स्थिति में आ चुकी थी। मुझे देखते ही प्रसन्नता जाहिर करती बोली कि, रात में हवाघर के पास खड़े रहकर मैंने उसका संगीत सुना है, जिसके लिए धन्यवाद के साथ वह मुझे एक प्याला चाय पिलाना चाहती है। दो चाय का आर्डर देकर वह मेरे पास आ बैठी।

"तुम्हें संगीत पसन्द है?"

"हाँ, बहुत पसन्द है।" मेरा उत्तर था।

"अच्छे लोग संगीत-प्रेमी होते हैं।"

"अच्छे लोग सभी अच्छी चीजें पसन्द करते हैं।" मैंने कहा।

"और क्या-क्या पसन्द है तुम्हें?"

"पसन्द तो बहुत-कुछ है, पर जो चीज अपने पास न हो, उसे कैसे पसन्द किया जा सकता है।"

मेरा उत्तर सुन राधिका को हँसी छूट आई। वह जोर-जोर से हँसने लगी। शायद सिगरेट का ही कमाल था कि हँसते-हँसते लोट-पोट हो गयी। आँखों में पानी उतर आया। हँसी का दौर थमा तो एक हल्की मुस्कान होठों पर रह गई। वह मेरी तारीफ में कुछ कहना चाहती थी, लेकिन आँखें जितना देखती हैं और मन जो महसूस करता है, उसे शब्दों में रखना इतना आसान नहीं। सुख से कातर हुई राधिका मेरे पास सरक आई और सिगरेट वाली उँगलियाँ बढ़ाकर बोली, "लो!... एक कश लेकर देखो, यहीं बैठे-बिठाए तुम्हें बहुत-कुछ अपने आस-पास दिखने लगेगा।"

"यहाँ जो है वह सभी कुछ तो दिख रहा है, इससे अधिक और क्या?..." मैंने कहा।

"जो नहीं दिख रहा, उसे भी तुम देख सकोगे। मैं देख सकती हूँ तो तुम भी देख सकते हो। देखने की कोई सीमा नहीं है।" राधिका की पलकें आँखों पर झुक आई, जैसे वह किन्हीं सपनों के देश में उतरने लगी हो। सामने वाली पहाड़ी तब राधिका को चीन की ऊँची दीवार दिखने लगी। बोली, "आँखे बन्द करती हूँ तो पल में हांगकांग पहुँच जाती हूँ। अब यह जंगल 'टाइगरवाम गार्डन' बनता जा रहा है। हाँ, ठीक वैसा ही... जहाँ पेड़ों की छाँव में स्नैगाव फारेस्ट की महकती हवाएँ मुझे सहलाने लगती हैं। वहीं ड्रैकुला पैलेस में लोगों को मेरे लौटने का इन्तजार है।"

राधिका की आँखें पूरी तरह बन्द हो जाती हैं। लगता है कि दूर किसी अज्ञात देश में वह पहुँच चुकी है। जीते-जागते सपनों की दुनिया जैसे उसकी यादों में करवटें लेने लगी है। मन का उल्लास होंठों पर फैलता जा रहा है।

"ओह! यह मैं क्या देख रही हूँ, काश!... तुम भी देख पाते इस ऊँचे ककनाश टावर को।... यहाँ से स्टाकहोम शहर केसरी रंग के फूलों में डूबा हुआ लगता है। एक कश लेने की बात है, फिर तुम अपने को सन्फ्रांसिस्को के गोल्डन गेट ब्रिज पर घूमते हुए पाओगे... और सुनहली शाम के वक्त यह सिगरेट तुम्हें बेरूत के फोनेक्सिया होटल में रंगीन शीशों के अन्दर तक छोड़ आएगी।... तुमने तेहरान का पर्शियन टेम्पल नहीं देखा होगा। ठीक ताजमहल जैसी बुलन्द महराबें... और उन पर की गई नक्काशी।..."

धीरे-धीरे राधिका की आवाज कमज़ोर पड़ने लगती है। जैसे कि सपना बिखरने लगा हो। दूसरे ही क्षण होंठों से मुस्कान गायब, अचानक बन्द आँखें भी खुल जाती हैं।

"क्या हुआ?"

"कुछ नहीं, सोचती रही, शाहजहाँ ने कितना सुन्दर ताजमहल बनवाया। मुझे शाहजहाँ जैसा प्रेमी अच्छा लगता है, अपने कनहैया से कहूँगी कि मेरी याद में एक छोटा-सा ताजमहल वह भी बनवाए। यहीं... इसी जगह।"

राधिका की बचकानी हरकतें कई बार उसके प्रति बनती मेरी धारणाओं को विपरीत अर्थ दे जाती हैं। कन्धे पर रंगीन थैला चढ़ाकर तड़के वह मेरे सिरहाने आ धमकती और बाँसुरी का बेसुरा राग अलाप कर नींद में खलल पैदा कर जाती। तब मन कई तरह सोचने को विवश हो जाता। कहीं राधिका नाटक तो नहीं रच रही, कहीं ऐसा तो नहीं कि उसका कन्हैया नेपाल में बैठकर तस्करी का धन्धा कर रहा हो और इतनी देर राधिका को दूसरों के साथ रास रचाने की छूट दे रखी हो। तब वह मेरे सिरहाने बैठ मदारी की तरह एक-एक चीज थैले से निकाल अपने आगे ढेर करती जाती, "...यह ब्रश नेपाल में खरीदा था... इस साबुन में तीखी महक है... यह बिंदिया... और यह क्रीम बालों को मुलायम बनाती है।... देखो, मेरे बाल कितने मुलायम हैं, इन्हें छूकर देखो!"

सुबह मीठी नींद के वक्त ही उसे यह सब दिखाने का मौका मिलता हैं धूप का इन्तजार किए बिना ही जब वह नदी के ठंडे पानी में नहाने का आग्रह करती तो प्राण सूखने लग जाते। यह सब मुझसे नहीं होता। इच्छा के विरुद्ध कुछ भी

करना अपराध करने जैसा लगता है। राधिका से कई बार कह चुका कि मैं स्वप्नजीवी नहीं हूँ। परिस्थितियों को नज़रअन्दाज करने की सामर्थ्य मुझमें नहीं है।

राधिका जाने कि वह मेरी बातों को किस तरह लेती है, किन्तु महसूस करती है कि दिन-दिन उसके प्रति मेरी उपेक्षा बढ़ती जा रही है। यह बात उसे जितनी तेजी से महसूस होती, उतनी ही तेजी से वह अपने मरने की बात सामने रख देती। फिर-फिर उसे समझाता हूँ कि जीवन और मृत्यु का क्रम कभी रुका नहीं, वह आगे भी चलता रहेगा। न आदमी के पैदा होने से कोई बात बनती है, न उसके चले जाने से कोई फर्क पड़ता है।

राधिका मेरी बात से सहमत नहीं। उसे अपने मरने की चिन्ता है। मैं मर गई तो क्या होगा।

"तुम सोचती हो कि तुम्हारे मरने से दुनिया बदल जाएगी?"

"दुनिया नहीं बदलेगी, पर मैं समझती हूँ कि आदमी से ही सब कुछ है। वह नहीं रहता तो बहुत-सी चीजें नहीं रहती। मैं मरूँगी तो मेरे साथ ये पेड़-पौधे क्या नहीं मर जाएँगे?.. फिर बर्फ लदी इन खूबसूरत पहाड़ियों का क्या होगा?... चीन की वह लम्बी दीवार क्या जमीन में धँस न जाएगी, तुम कहते हो कि कुछ नहीं होगा, पर सोचो, कितना-कुछ मेरे साथ चला जाएगा।" राधिका की आवाज थरथराने लगती है। आँखों में आँसू भर आते हैं, थैले में अपना सामान समेट कर वह उठ खड़ी होती है और मेरी बात अनसुनी कर कमरे से बाहर हो जाती है।

इस तरह उसका रूठ कर जाना अच्छा नहीं लगा। सोचा, अगले दिन आएगी तो उसे समझाऊँगा। लेकिन इसके बाद वह लौटकर न आई। अब जाने राधिका कहाँ है। वह कहीं हो, पर उसके निकट होने का एहसास आज भी बना हुआ है।

डब्ल्यू-46, सैक्टर-12, नौएडा (उत्तर प्रदेश)

ग़ज़ल

डॉ. मधुर नज्मी

हमारे समय के समर्थ ग़ज़लकार हैं। इनके कई ग़ज़ल-कविता संग्रह विशेषांक प्रकाशित हो चुके हैं। 'काव्यमुखी साहित्य अकादमी' के महानिदेशक हैं। उत्तर प्रदेश के गोहना मुहम्मदाबाद (मऊ) में रहकर रचनात्मक लेखन में सक्रिय भागीदारी।

(1)

ये माना की फन में भी आई कमी है–
फ़ज़ा में घुली आज भी शाइरी है।
शबो-रोज़ की ये अज़ीयत बड़ी है–
गले पर मेरे ज़िद की की छुरी है।
जो महरूम फन से है तनकर खड़ी है–
सलीके से फलदार टहनी फली है।
उगाती है अब भी ये पौदे अदब के–
ग़ज़ल की ज़मीं में अभी तक नमी है।
उसे चाहकर भी न मैं तोड़ पाऊँ–
मेरे हाथ में फूल की हथकड़ी है।
घुमाये, नचाये, फ़रेबी बनाये–
सियासी, ज़मीं की अजब इक धुरी है।
तराशा गया है क़रीने से जिसको–
वही शाख़ गुलशन में फूली-फली है।
बुलाती है देके सदा 'गोपियों' को–
अधर पर जो 'कान्हा' के इक बाँसुरी है।
करे क्यूँ न रोशन ये दुनिया अदब की–
क़लम की नुमायाँ 'मधुर' रोशनी है।

(2)

कोई निस्बत नहीं है जो फ़नकार से–
फ़न ख़रीदोगे क्या जाके बाज़ार से।
इवा दिया की तरह ही मेरी ज़िन्दगी–
मैं उजाला करूँ अपने किरदार से।
झूठ को झूठ ही मैं लिखूँगा सदा–
गिर नहीं सकता मैं अपने मयार से'।
एक हम हैं कि खुलती नहीं है ज़बाँ–
कोई दिल माँगे है कितने अधिकार से।
जब है इन्सानियत का उजाला यहीं–
रह सकूँगा अलग कैसे संसार से।
जिसको देखो वही है परेशाँ बहुत–
कौन बच पाया है वक्त की मार से।
हम क़लम की 'मधुर' रोशनी के लिये–
लौ लगाये हुए हैं क़लमकार से।

'काव्यमुखी साहित्य अकादमी', गौहना मुहम्मदाबाद, ज़िला-मऊ-276403 (उत्तर प्रदेश)

कविता

शिवानंद सिंह 'सहयोगी'

हमारे दौर के समर्थ-महत्वपूर्ण कवि हैं। इनकी कविताएं विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में निरंतर प्रकाशित।

मुटुरी मौसी
चढ़ी बाँस पर
पतई तोड़े
बछिया खातिर
मुटुरी मौसी
झुककर पकड़ी
ऊँची फुनगी
जीती केवल
अपनी जिनिगी
डाल मरोड़ी
अपने दम से
पतई तोड़ी
आते क्रम से
स्नेह लुटाती
मुटुरी मौसी
श्रम की पढ़ती
कथा कहानी
बोले अक्सर
मीठी बानी
बुरे कर्म को
डाँट रही है
खुशियाली ही
बाँट रही है
घर की नानी
मुटुरी मौसी
चना-चबेना
फाँका फाँका
चावल घर में
कभी न झाँका
गिरता आँसू
चाट रही है
घर की खाई
पाट रही है
अंजर-पंजर
मुटुरी मौसी

'शिवाभा', ए-233, गंगानगर, मेरठ-250001 (उत्तर प्रदेश)

प्यार जताने के लिए

राजीव कुमार त्रिगर्ती

कवि राजीव कुमार त्रिगर्ती की रचनाएं, कविता आदि विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित। इन दिनों रचनात्मक उपक्रम में साझीदारी और भागीदारी। रचनात्मक गतिविधियों में सक्रिय उपस्थिति।

प्यार जताने के लिए
यह जरूरी नहीं है
कि मैं तुमसे मिलूँ
किसी ऐसे स्थान पर
जहाँ कूक रही हो
आम्रकुंज में कोयल
मौजराए हों आम
महक रहे हों टिकोरे
गुनगुनी धूप में
गुनगुना रही हों
बहुत सी मधुमक्खियाँ
हवा में हो एक सुगन्ध
गज़ब की मादक
प्यार जताने के लिए
यह जरूरी नहीं
कि हम बैठे हों
किसी कॉफी हाउस में
आमने-सामने
और तुम्हारे हाथों को
हाथों में लेकर
या न लेकर
आँखों में आँखें डालकर
या बिना डाले
कुछ कहा जाए
या न भी कहा जाए
चुपचाप घूँट-घूँट
चाहते रहा जाए
तुमसे प्यार जताने के लिए
यह जरूरी नहीं
कि तुम जान ही लो
कि मैं प्यार करता हूँ तुमसे
प्यार जताने के लिए
यह जरूरी नहीं
कि पहले विश्वस्त हुआ जाए
अपने प्रति तुम्हारे प्यार पर
प्यार के लिए
जरूरी है तो बस इतना
कि मैं करूँ तुमसे प्यार
दुनिया के किसी भी कोने में बैठा
सजाता रहूँ
तुमसे दिल का हर कोना।

गाँव-लंघू, डाकघर-गाँधीग्राम, वाया-बैजनाथ,
जिला-कांगड़ा-176125 (हिमाचल प्रदेश)

आदमी से प्यार कीजिए

जितेन्द्र निर्मोही

हमारे समय के वरिष्ठ कवि जितेंद्र निर्मोही की कई पुस्तकें जिनमें 'जंगल से गुजरते हुए', 'तेरे चेहरे की तलाश' कहानी संग्रह, 'उजाले अपनी यादों के' (संस्मरणात्मक पुस्तक) लोकप्रिय हो चुके हैं। कई पुरस्कारों से सम्मानित कवि, कहानीकार, समीक्षक। राजस्थान साहित्य अकादमी के सदस्य भी रहे हैं।

वक्त को हिसाब दीजिए
आदमी से प्यार कीजिए
ये जिंदगी जो पूछती सवाल
दीजिए जवाब दीजिये...
अब नहीं समां बहार का
अब नहीं सबा बयार की
रंज़ो-ग़म व मुफ़लिसी में लोग
ढूँढते सदाएँ प्यार की
देह में उतर के देखिये
नेह का प्रकाश कीजिए...
ज़िंदगी शबनम की बूँद है
जो रुकी है एक पात पे
क्या भरोसा रूठ जाये ये
एक छोटी सी बात पे
दर्द के परागकण छुपा
एक हँसी उधार दीजिए....
क्या भरोसा आज का समां
कल यहाँ रहे की ना रहे
आज आपकी बनी यहाँ
कल यहाँ बने की ना बने
शब्द के महाभिषेक में
अपनी अंजुरी भी छोड़िये।

बी-422, आर.के. पुरम्, कोटा-10 (राजस्थान)

तीन कविताएँ

दिनकर कुमार

हमारे दौर के युवा रचनाशील, चिंतक कवि दिनकर कुमार की रचनाएं विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रही हैं।

ईमानदारी की कमीज पहनकर

ईमानदारी की कमीज पहनकर
जो गुजरते हैं
छल-कपट की स्याह गलियों से
नुक्कड़ पर उनका स्वागत करता है तिरस्कार
उपेक्षा के पत्थर उन पर बरसाए जाते हैं।

झूठ और साजिश की बुनियाद पर
खड़े जिस ढाँचे को
समाज कहकर पुकारा जाता है
वह सुकरात को जहर पिलाता है
ईसा को सूली पर लटकाता है।

इसके बावजूद
जो नींव को तोड़कर चलते हैं
धारा के विरुद्ध अपनी कश्ती आगे बढ़ाते हैं
वे परवाह नहीं करते दुनिया की
प्रतिकूल मौसम से टकराते-टकराते
फौलादी बना लेते हैं अपने इरादे को
एक न एक दिन दुनिया को झुकाते हैं

जनसमुद्र में जी रहा हूँ

जनसमुद्र में जी रहा हूँ
एक घोंघे की तरह या
एक कंकड़ की तरह
एक खोल के अंदर सिर छिपाकर
या निरर्थक रास्ते पर बिफरकर

तुम्हारी व्यवस्था की मीनार ऊँची है
जहाँ से देखने पर नजर आएगा
मेरा वजूद एक चींटी की तरह
तुम्हें मेरी शक्ल दिखाई नहीं देगी
न ही मेरे चेहरे की तनी हुई नसें
आँखों में सुलगती हुई बेचैनी
तुम देख पाओगे।

हो सकता है जनसंख्या के आँकड़े में भी
मेरा वजूद न हो मतदाता सूची से
गायब हो मेरा नाम
दर्जनों सरकारी पहचान पत्रों में भी
ढूँढने से नहीं मिलूँगा मैं।

जनसमुद्र में जी रहा हूँ
एक घोंघे की तरह या
एक कंकड़ की तरह।

तुम्हारी बेरुखी मेरी उम्र बढ़ाती है

तुम्हारी बेरुखी मेरी उम्र बढ़ाती है
मेरे हृदय में सुलगती हुई आग
और भी अधिक तीव्रता के साथ
लपटें फेंकने लगती है
विवशताएँ मेरे होठों में
और भी ज्यादा शक्ति का संचार करती हैं।

मैं एक को बार-बार रखता हूँ
तुम्हारी कसौटी पर
अपने आपको परखता हूँ बार-बार
अपनी शुद्धता को पाने की जिद में
मंत्रणा के मार्ग पर
चलता रहता हूँ नंगे पाँव।

मैंने कभी तुम्हारी सराहना की अपेक्षा नहीं की
मैं तो केवल इतना चाहता था
जब निराशा के अँधेरे में घिर जाऊँ
जब जीवन की चुनौतियों से टकराता रहूँ
कोई हौले से रख के कंधे पर हाथ और कहे
कि मैं तुम्हारे साथ हूँ।

4-बी-1, ग्लोरी अपार्टमेंट, तरुणनगर मेन रोड,
गुवाहाटी-781005 (असम)

शाम के साये

सुरेश चंद्र 'सर्वहारा'

हमारे समय के महत्वपूर्ण कवि सुरेश चंद्र 'सर्वहारा' की कविताएं विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में निरंतर प्रकाशित।

दिन डूबा
उतरी धरती पर
धीरे-धीरे शाम,
चिट्ठी यादों की
ज्यों कोई
लाई मेरे नाम।

लगे उभरने पीड़ाओं के
कितने कितने दंश,
दीख रहे
कुछ धुँधलाये-से
अपनेपन के अंश।

सिमट गए
सायों जैसे ही
जीवन के आयाम
लगा दृश्य पर
अंधियारों का
अब तो पूर्ण विराम।

पुती कालिमा
दूर क्षितिज पर
सब कुछ हुआ उदास,
पंछी बन
उड़ गए सभी तो
कोई न मेरे पास।

पहली बारिश
मौसम की
पहली बारिश ने
धोया सारा आँगन,
लकिन खोया
रहा भटकता
पता न जाने क्यों मन।

भीग न पाया
तनिक कहीं से
कोना मन का सूखा,
रहा खोजता
जाने किसको
यह प्यासा व भूखा।

याद किसी की
रहती तड़पती
बिन पानी ज्यों मछली,
आँखों की
सूनी झीलों से
आँसू बनकर उछली।

गम को थोड़ा
कम करता हूँ
लगा समय का मरहम,
पर उसको भी
धो देता है
बारिश का यह मौसम।

ढलती हुई धूप
ढलने लगी है
धूप और
बढ़ने लगी परछाइयाँ,
और गहरी
हो उठी हैं
बीते दिनों की झाइयाँ।

दूर कितना
आ गया मैं
अपने में खोया हुआ,
मन का पंछी
हार थक अब
लगता है सोया हुआ।

ठहरता
लगता समय यह
मैं ही या ठहरा हुआ,
धुन्ध बाहर
फैलती है
मन में है गहरा धुँआ।

3-फ-22, विज्ञान नगर, कोटा-324005
(राजस्थान)

ईद कबूतर और तीन फरिश्ते

डॉ. अलका त्यागी

हमारे समय की महत्वपूर्ण कवयित्री डॉ. अलका त्यागी दिल्ली विश्वविद्यालय के दयाल सिंह कॉलेज (सांध्य) के अंग्रेजी विभाग में एसोसिएट प्रोफेसर पद पर सेवारत हैं। दो काव्य-संग्रह 'सुन री सखी' और 'अमलतास' प्रकाशित। अंग्रेजी में Whispers at the Ganga Ghat & Other Poems नामक काव्य-संग्रह प्रकाशित। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में कविताएं प्रकाशित।

गोरा सौम्य चेहरा
सफेद दाढ़ी और सफेद कुरता
साफा भी सफेद
इनको देखा तो लगा
फरिश्ते इनसे सुंदर नहीं हो सकते
जब इन्हें देखा
तो ये मुआयने से देख रहे थे
अपने नन्हें पोतों को,
जिन्हें गाड़ी से उतार कर
इन्होंने अभी-अभी भेजा था
चौराहे के कबूतरों के पास
एक छोटी-सी बात इनके कानों में कहकर
'चलो ईद पर कबूतरों और चिड़ियाओं को
ईदी का दाना दे आएँ
अब दिखते हैं दो नन्हें फरिश्ते
छोटे सफेद कुर्ते पायजामें में–
मिट्टी के कटोरों में
एक दाना डालता है तो दूसरा पानी–
बहुत से कबूतर आकर इन्हें सलाम करते हैं
मुस्कुराकर ईद का पैगाम लेते हैं
वहाँ पश्चिम में क्रिसमस पर
सफेद बर्फ पर लाल रंग पहने
यहाँ पूरब में ईद पर–
लाल धूप में सफेद रंग पहने
ये दिलकश सांताक्लॉज जैसे बाबा
दो छोटे बच्चे और सैकड़ों कबूतर
यही तो है ईद के खूबसूरत फरिश्ते।

एसोसिएट प्रोफेसर, अंग्रेजी विभाग, दयाल सिंह कॉलेज (सांध्य), दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।
बी-5, दूसरी मंजिल, निजामुद्दीन पूर्व,
नई दिल्ली-110013

कविताएं

नागेन्द्र चौधरी

युवा कवि-मेधावी छात्र नागेंद्र चौधरी दिल्ली विश्वविद्यालय के दयाल सिंह कॉलेज (प्रातः) में हिन्दी (प्रतिष्ठा) के विद्यार्थी हैं इनकी दो कविताएं 'गगनांचल' पत्रिका में प्रकाशित हो रही हैं।

ऐ जिन्दगी तुम इतनी उलझी-सी क्यूँ हो?

मिलेगी अगर जिन्दगी किसी मोड़ पे,
तो पूछूँगा उससे मैं
तुम इतनी उलझी-सी क्यूँ हो?
हर रोज जितना सुलझाता हूँ
उतना और उलझती जाती हो
हर रोज नई पहेली लेकर
आखिर मुझसे क्या चाहती हो?

किसी को साथी चाहिए
किसी को राही की तलाश।
हर पल बदलते रास्तों में
कोई चाहता, न छूटने वाला हाथ।
फिर हाथों की लकीरों में इतनी सिमटी-
सी क्यूँ हो?
ऐ जिन्दगी तुम इतनी उलझी-सी क्यूँ हो?

कभी बेखौफ अंधेरा होता,
कभी रौशनी का बसेरा होता,
धूप-छाँव का साया लेकर
हर लम्हें में तेरा डेरा होता।
कभी लगती तू खौफनाक-सी है,
कभी भोला मासूम है चेहरा तेरा
उलझी होकर भी इतनी सुलझी-सी क्यूँ हो?
ऐ जिन्दगी तुम इतनी उलझी-सी क्यूँ हो?

डरने लगा हूँ तेरे पल-पल
बदलते अवतारों से
एक खौफ बैठ गया है दिल में
तेरे कसमकश नजारों से।
दिल होता है खुद का पर
उसकी खुशी किसी और से होती है।
अजीब हाल है जिन्दगी तेरा,
खुद की खुशी में भी रोती है।
खुशी में भी गम की कमी-सी क्यूँ हो?
ऐ जिन्दगी तुम इतनी उलझी-सी क्यूँ हो?

मिलेगी अगर जिन्दगी किसी मोड़ पे,
तो पूछूँगा उससे मैं,
तुम इतनी उलझी-सी क्यूँ हो?

तब मनुष्य खुद से ही है हारता

कामनाओं का सर्प जब है फुँफकारता
तब मनुष्य खुद से ही है हारता।
बेबसी के दर्द का मारा हुआ
खुद की कुल्हाड़ी से पैर अपने काटता।

चाह है धन की, किसी को चाह सोहरत की
चाहता कोई बुलंदियों को छूना
किसी को चाह सुंदर औरत की।
इच्छाओं के मंजर ने घेरा,
मनुष्य का इक भँवर में है।
हर घड़ी संघर्षरत है इंसान
फिर भी जीवन अधर में है।
अपनी खुशी के लिए
जब दूसरों का हक है मारता
तब मनुष्य खुद से ही है हारता।

अंधों की इस दुनिया में
रोशनी का कोई महत्व नहीं।
मूर्ख यहाँ पर ज्ञानी हैं
ज्ञानी का अस्तित्व नहीं।
हर दिशा में है मौन छाया,
संस्कार स्वरूप लालच है पाया।
खुद की नजरों में ही गिर गया,
जब कफन ने था अपनाया।
अंत का मंजर
जब इंसान को है धिक्कारता
तब मनुष्य खुद से ही है हारता।

जीवन जियो इस कदर की
दुनिया तेरे नाम को सलाम करे।
चले जाने पर भी इस जहाँ से
तुम्हारे कर्मो का सम्मान करे।

सीख दे जाओ इस जमाने को ऐसी
जिसका पालन हर इंसान करे।
काश एक दिन वो भी आए,
कि नाज तुझ पर भगवान करे।

धर्म के नाम पर,
इंसां जब इन्सान को है बाँटता
तब मनुष्य खुद से ही है हारता।
कामनाओं का सर्प जब हैं फुँफकारता
तब मनुष्य खुद से ही है हारता।

हिन्दी प्रतिष्ठा द्वितीय वर्ष, हिन्दी विभाग,
दयाल सिंह कॉलेज (प्रातः), दिल्ली
विश्वविद्यालय, लोदी रोड, नई दिल्ली-110003

पुस्तक-समीक्षा

अश्वत्थामा के घाव से रिस रहा अतृप्त मन का विरह गीत

अलका सिन्हा

समीक्षक-लेखिका अलका सिन्हा की रचनाएं विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में निरंतर प्रकाशित। लेखिका की ब्लॉग 'नई धारा' में वर्ष 2013 में प्रकाशित और चर्चित हुई।

जनार्दन मिश्र का कविता से रिश्ता बहुत पुराना और गहरा है। यों जनार्दन मिश्र के लेखन में कविता संग्रहों के अलावा कहानी संग्रह और समीक्षात्मक पत्रकारिता से संबद्ध पुस्तकें भी शामिल हैं मगर इसमें संदेह नहीं कि कविता इनका मूल स्वर है। इनकी कविताओं में व्याप्त प्रेम का स्नेहिल स्पर्श, इनकी कविता को भीड़ से अलग 'डील' करने का आग्रह करता है। 'पथराई आँखों में', 'अव्यक्त पीड़ा' तथा 'तुमसे मिलने के बाद' तीनों ही कविता संग्रह इस तथ्य की पुष्टि करते हैं कि कवि का मन समाज से विलुप्त होते जा रहे उस प्रेम के लिए लगातार चिंतित है जिसके बिना यह धरती बांझ हो जाएगी। कवि का मन आशंकित है कि अगर प्रेम की अनुभूति दैहिक व्यापार बनकर बाजार में बिकने लगी तब आने वाली पीढ़ियाँ तो इस कोमल अहसास से अपरिचित ही रह जाएंगी। उनके भीतर की तरलता सूख जाएगी और वे प्रेम की दिव्यता से वंचित रह जाएंगे। कवि के इन तीनों संग्रहों में मनुष्य के भीतर छलछलाती संवेदना की उस नदी को बचा रखने की अदम्य आकांक्षा को व्यक्त किया गया है जिसके बिना जीवन रेगिस्तान हो जाएगा।

'अश्वत्थामा का घाव' संग्रह कवि की उसी आकांक्षा की अगली शृंखला है। हर पुरुष में एक स्त्री तथा हर स्त्री में एक पुरुष होने के बावजूद दोनों एक-दूसरे के बिना कितने अधूरे और एकाकी हैं। अर्धनारीश्वर होने के बावजूद शिव भी तो एकाकी नहीं रह पाए और उन्होंने पार्वती का वरण किया। जनार्दन मिश्र मनुष्य के भीतर प्रेम की उस तरलता के लिए सदैव उत्सुक रहते हैं जिसकी उपस्थिति जीवन को सहज और सुगम बनाती है जबकि उसका न होना जीवन को बोझिल कर देता है और अश्वत्थामा के घाव की तरह लगातार रिसता रहता है। कवि के नए संग्रह में अधिकतर कविताएं नारी तथा प्रेम के बदलते स्वरूप पर केन्द्रित हैं जहाँ भौतिकता हावी होती जा रही है और इसलिए यह पवित्र अहसास बाजारू और छिछला होकर रह गया है। स्त्री और मछली, नारी तुम नदी हो, जिसे चाहती हो, बिना कुछ बोले जैसी अनेक कविताओं में प्रेम में आ समाया बाजार चित्रित होता है तो दूसरी ओर तुम्हीं ने एहसास कराया, हिसाब लगाना जैसी भी कविताएं इस संग्रह में शिरकत करती हैं जो प्रेम की चाह में रेगिस्तानी राहों पर नंगे पाँव दौड़ पड़ती है। तथापि, इसमें संदेह नहीं कि संवेदनहीन और शुष्क साथी के साथ जीने की सजा झेलते जीवन दंश को व्यक्त करती कविताएं इस संग्रह का स्थाई भाव हैं। अश्वत्थामा के रिसते घाव के साथ संग्रह को शीर्षक देना भी चरम छटपटाहट को व्यक्त करता है।

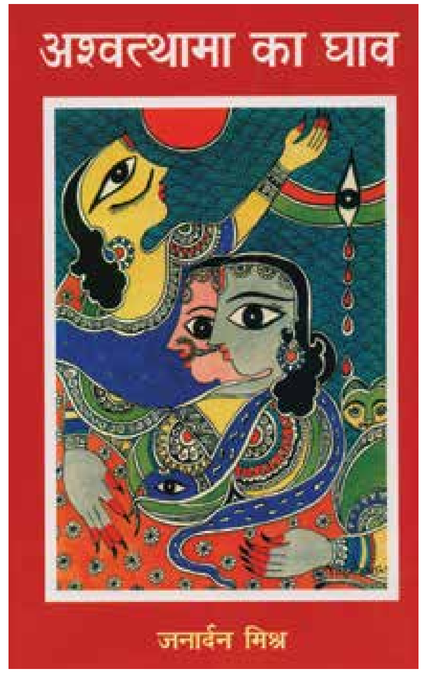

पुस्तक : अश्वत्थामा का घाव

लेखक : जनार्दन मिश्र

प्रकाशक : शब्द सारथी प्रकाशन, नई दिल्ली

पृष्ठ : 152

मूल्य : 300/- रुपये मात्र

इसलिए कहा जा सकता है कि संग्रह की अधिकांश कविताएं अतृप्त मन के विरह गीत हैं जो अपेक्षित सहयात्री की अनुपस्थिति में व्याकुलता के साथ गाए गए हैं। कवि कहना चाहता है कि प्रेम दैहिक संवेग से अधिक मानसिक स्पर्श की कोमल अनुभूति है। आखिर पुरुष

क्यों नहीं समझ पाता, मन का बोझ, मेरे दुख को समझो जैसी कविताओं में प्रेम के उस दिव्य स्वरूप को चित्रित करने की कोशिश की गई है जो अक्सर भौतिक लोलुपता की बलि चढ़ जाता है। प्रेम का स्नेहिल स्पर्श यमराज से भी टक्कर ले लेता है जबकि उसका अभाव जिन्दगी को जीते-जी नरक बना देता है। कवि कहता है–'यकीन करो/ संवेदनहीन साथी की चुप्पी/मुर्दे की चुप्पी से/ज्यादा भयावह होती है।'... (पृ.-50)

जीवन दर्शन को नए ढंग से व्याख्यायित करने का एक लंबा सिलसिला भी इन कविताओं में देखा जा सकता है। कभी वह कौए के घोंसले में पलने वाले कोयल के बच्चे की बोली से मुखरित होता है तो कभी नदियों और गगनचुंबी इमारतों की टकराहट में। कवि का पत्रकार स्वरूप अपने आसपास की दुनिया पर पैनी दृष्टि डालता है और सजग करता है कि स्थितियों की भयावहता के लिए हम स्वयं ही जिम्मेदार हैं। स्त्रियों के साथ रोज घटित होने वाली असंख्य दुर्घटनाओं के प्रति कवि हमारी बेटियों के हवाले से पूछता है कि आखिर हमें ऐसा क्यों नहीं बनाया कि सदा अँगुली पकड़कर चलने के बजाय जो हमें बुरी नजर से देखे उसके सामने दुर्गा बन जाएं। (पृ.-73)

ऐसे कई सवाल कवि मन को मथते हैं क्योंकि वह सोचता है कि दुनिया इससे बेहतर होनी चाहिए। वह यह भी मानता है कि इस विद्रूपता के पीछे वही मानसिक अतृप्ति हे जो व्यक्ति को हैवानियत की तरफ ले जाती है। स्थितियाँ इतनी दुरूह हो चली हैं कि कब पिता ही अपनी बेटी का सौदा कर बैठे, यह भी कह पाना कठिन है। ऐसी विषम और दुष्कर स्थितियों को आवाज देती कविताएं पाठक को झकझोर डालती हैं। आधुनिकता के नाम पर समाज का बाजार में तबदील हो जाना भी एक ऐसी पीड़ा है जो कवि को बार-बार विचलित करती हैं। कवि का मानना है कि संबंधों में हावी होता रूखापन ही इन विरोधाभासों का मूल कारण है। बिना कुछ बोले ही, आज मैंने जाना, जिसे नहीं चाहते, जंग जैसी कई कविताएं इस तथ्य को उद्‌घाटित करती हैं कि संवेदनहीन संबंध व्यक्ति को सहज जीवन से वंचित कर रहे हैं। हमारा वजूद किसी से कम नहीं, इस संग्रह की अत्यंत महत्वपूर्ण कविता है जो हर तरह का गरल पीने के बाद भी आत्मसम्मान को सर्वोपरि रखती है। कवि का कहना है कि ईश्वर की बनाई इस सृष्टि में कोई भी कमतर हो ही नहीं सकता। हर व्यक्ति की अपनी जगह और अहमियत है। अगर कोई स्वयं भी खुद को किसी से कम आंकता है तो दरअसल वह ईश्वर के प्रति अनास्था को व्यक्त करता है और वह अपना ही नहीं सृजनकर्ता का भी अपमान करता है समाज में हर तबके की भूमिका महत्वपूर्ण और अलग है। इसमें छोटा-बड़ा कैसा?

कुल मिला कर अपने पिछले संग्रहों की तरह ही इस संग्रह में भी बेहतर दुनिया का सपना देखते मनुष्य का वह बयान है जो तमाम तरह की निराशा और संकट के बाद भी व्यक्ति को टूटने नहीं देता और घनघोर काली रात के बावजूद आश्वस्ति से उजास भरी सुबह का राह देखता है।

371, गुरु अपार्टमेंट्स, प्लॉट नं. 2,
सेक्टर-6, द्वारका, नई दिल्ली-110075

पुस्तक-समीक्षा

मीडिया, सिनेमा और स्त्री की निर्मिति

हंसराज 'सुमन'

समीक्षक हंसराज 'सुमन' दिल्ली विश्वविद्यालय के अरबिन्दो कॉलेज में हिंदी के प्राध्यापक व दलित अधिकार आन्दोलन में सक्रिय हैं। इनकी रचनाएं, साक्षात्कार आदि विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित।

जेंडर एक सोशल कॉन्सट्रक्ट है। सीमोन की इस ऐतिहासिक स्थापना को विभिन्न रूपों में सिल्वर सक्रीन पर उतारने वाले मधुर भंडारकर ने स्त्री-मन के हर कोने-अंतरे को पिछले बीस वर्षों के हिन्दी सिनेमा में उघाड़कर रख दिया है। निर्देशक मधुर के इस योगदान का विश्लेषण करती डॉ. अनिल कांबले की पुस्तक 'मधुर भंडारकर की फिल्मों में स्त्रीवादी मीडिया दृष्टि' हिन्दी सिनेमा की स्त्री-दृष्टि से तो हमारा परिचय कराती ही है, साथ ही यह पुस्तक मानव सभ्यता के इतिहास की उन तमाम संरचनाओं की पड़ताल भी करती है, जिसने स्त्री को 'गढ़ने' और उसे 'स्त्री' बनाए रखने में अपनी भूमिका निभाई है। पुस्तक रूप में प्रकाशित इस शोध-प्रबंध में डॉ. कांबले ने स्त्रीवाद की अवधारणा, स्त्रीवादी मीडिया दृष्टि, हिन्दी फिल्मों में स्त्री की छवि, मधुर भंडारकर की फिल्म कला और उनकी स्त्री-दृष्टि तथा स्त्री-भाषा पर एक शोधपरक व सुचिंतित अध्ययन प्रस्तुत किया है।

19वीं सदी के आखिरी वर्षों में योरोप में एक नए विमर्श के रूप में स्त्रीवाद का उदय हुआ और इसने दुनिया की आधी आबादी के संघर्ष, पीड़ा, आकांक्षाओं और सपनों को अभिव्यक्ति दी। किन्तु आज इक्कीसवीं सदी के डेढ़ दशक गुजर जाने के बावजूद स्त्री-अस्मिता के वे प्रश्न, जो सामंती और प्राक् सामंती युगों से चले आ रहे हैं, जस-के-तस खड़े हैं। कुछ चोटें पड़ी जरूर हैं पर बदला बहुत कुछ नहीं है। बीसवीं सदी की व्याख्या समूची दुनिया में परिवर्तन की सदी के रूप में हुई निश्चित रूप से यह परिवर्तन हाशिए की आबादी से भी संबद्ध रहा। तकनीक ने न सिर्फ जीवन शैली बदली, उसने जीवन-दृष्टियों में भी फर्क डाला। तकनीक के दो पक्ष हमारे सामने आए–एक पक्ष वह है, जिसने सामंती व्यवस्था की जड़ों पर आघात किया और पुरुषवादी केन्द्रों को चुनौती दी। केन्द्रवाद का विघटन तकनीक की एक बड़ी उपलब्धि है। इसका दूसरा पक्ष यह है कि इसी तकनीक ने एक दूसरे केन्द्र का अति-विकास किया। वह केन्द्र है–बाजार। दुर्भाग्य से इस दूसरे केन्द्र ने पुरुष-प्रभुत्व को ही पुनःस्थापित किया और स्त्री यहाँ भी अन्या व भोग्या बनी रही। डॉ. कांबले की शोध-दृष्टि की उपलब्धि बाजार के सभी अंगो-उपादानों में व्याप्त स्त्री-विरोध को समझने में है। डॉ. कांबले ने बाजार के उस चरित्र को तह-दर-तह खोला है। जहाँ स्त्री एक देह के रूप में कैद है, जहाँ वह देह-मुक्ति के नारे के छलावे में बाखुशी एक 'कमोडिटी' बन गई, 'विजनेस-टूल' बन गई है, जहाँ उसके सौंदर्य, कोमलता, ममता, दया, करुणा, स्नेह को बिकाऊ बना दिया गया है। इस तरह एक सोची-समझी रणनीति के तहत उसे आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, वैचारिक,

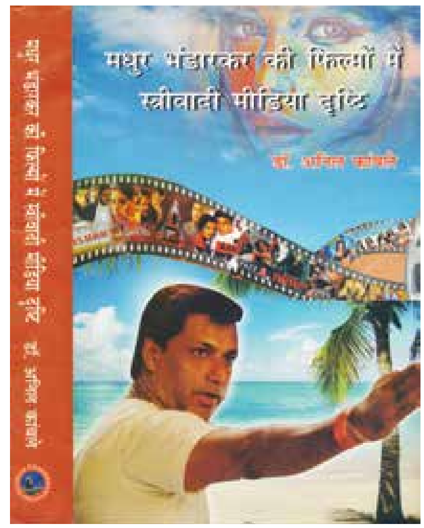

पुस्तक : 'मधुर भंडारकर की फिल्मों में स्त्रीवादी मीडिया दृष्टि'

लेखक : डॉ. अनिल कांबले

प्रकाशन : शिवालिक प्रकाशन, दिल्ली-110007

वर्ष 2016

मूल्य : 1595 रुपए

सांस्कृतिक, शारीरिक मानसिक स्तर पर कमजोर कर दिया गया है। और इस प्रयास में मीडिया, सरकार, कानून, शिक्षा-संस्थान, सामाजिक आन्दोलन, स्वयंसेवी संगठन, चिन्तकों, बुद्धिजीवियों ने बाजार की मदद की है।

इस पुस्तक में डॉ. कांबले ने स्त्रीवाद की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए, इसके वैश्विक संदर्भों को पाठक के समक्ष रखा

है। उन्होंने इस तथ्य को चिह्नित किया है कि स्त्री-केन्द्रित संस्कृति व समाज के निर्माण के लिए हमें संस्कृति की पारंपरिक संरचनाओं को ध्वस्त करना होगा। हमें उन संरचनाओं के अंतर्गत आने वाली कलाओं, धर्मों, मान्यताओं, कानूनों, विविध संस्थाओं और संस्कारों को लोकतांत्रिक मूल्यों की कसौटी पर पुनर्गठित करना होगा। इस विश्लेषण तक पहुँचने के क्रम में लेखक ने वैदिक युग से लेकर नवजागरण तक स्त्री की स्थिति, समाज में उसकी भूमिका आदि को स्पष्ट किया है। नवजागरण के परिप्रेक्ष्य में उन्होंने राजा राममोहन राय, ज्योतिबा फूले, ईश्वरचंद्र विद्यासागर, गाँधी आदि के उन योगदानों की चर्चा किया है, जिसके जरिए स्त्री को मुख्यधारा में जगह मिली। इस क्रम में डॉ. कांबले ने स्वाधीनता-संग्राम में स्त्रियों की महत्वपूर्ण भूमिका का भी विश्लेषण किया है और इसी क्रम में अनुसूइया सारामाई से लेकर सरोजिनी नायडू, उमा कुंडापुर, प्रभावती, रेणुका रे, अरुणा आसफ अली आदि के योगदानों को रेखांकित किया है।

इस पुस्तक में डॉ. कांबले ने स्त्री अस्मिता के जैविक, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक और आर्थिक आधारों का भी विवेचन किया है। स्त्री की निर्मिति को आधुनिक परिप्रेक्ष्य में विश्लेषित करते हुए उन्होंने मार्क्सवाद, समाजवाद आदि विचारधाराओं की स्त्री-दृष्टि का भी विश्लेषण किया है। वर्तमान मीडिया की स्त्री-दृष्टि की चर्चा करते हुए डॉ. कांबले का यह निष्कर्ष है कि–'मीडिया की नजर में स्त्री बिकाऊ खबर है।' लेखक के इस निष्कर्ष को नकारा नहीं जा सकता। आज जिस तरह से अंग्रेजी न्यूज चैनलों पर बलात्कार और स्त्री पर की गई हिंसा की विभिन्न घटनाओं का नाट्य-रूपांतरण दिखाया जाता है, उसका लक्ष्य वीभत्स है। प्रिंट और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया स्त्री-समर्थक होने के दावे करती है, किन्तु वहाँ जेंडर-आधारित भेदभाव व्यापक रूप में है। एक खास तरह का 'रेसिज्म' भी वहाँ दिखाई देता है। आप सभी न्यूज चैनलों के स्त्री-एंकरों को देख लें, कहीं भी आपको साधारण शक्ल-सूरत वाली साँवली या काली स्त्री नहीं दिखाई देगी। किलो-भर मेकअप लादे ये स्त्रियाँ उसी तरह की 'सामाजिक-निर्मिति' हैं जिसकी चर्चा सीमोन ने की है। इसके साथ ही हिन्दी फिल्मों के 'आइटम सान्ग' से लेकर टेलीविजन धारावाहिकों और विज्ञापनों तक में स्त्री उसी रूप में दिखाई देती है, जिस रूप में पुरुष उसे देखना चाहता है। यहाँ तक कि फिल्मी गीतों के बोल भी 'शीला' और 'मुन्नी' के कैरेक्टर में कैद करते हैं। डॉ. कांबले ने बेहद ही तथ्यसम्मत और तर्कसम्मत ढंग से मीडिया की स्त्री-दृष्टि को हमारे सामने रखा है।

सिनेमा भी मीडिया का एक हिस्सा है और व्यापक रूप से प्रभावशाली है। इसलिए स्त्री के प्रति हिन्दी सिनेमा के नजरिए को टटोलते हुए डॉ. कांबले ने मधुर भंडारकर की फिल्मों तक पहुँच हैं। इस क्रम में उन्होंने हिन्दी सिनेमा के समूचे इतिहास को खंगाल डाला है। 1913 में दादा साहब फाल्के की फिल्म 'मोहिनी भस्मासुर' में पहली बार स्त्री का किरदार एक स्त्री द्वारा निभाया गया। जिनका नाम था–कमला बाई गोखले। कांबले ने शुरूआती फिल्मों से लेकर अब तक की फिल्मों में स्त्री-चरित्र के प्रति किए गए निर्देशकीय-ट्रीटमेंट को परखा है। निस्संदेह पिछले सौ वर्षों के इस इतिहास का स्त्री पक्ष अंधकार भरा ही है। लेकिन अंधेरे में एक लालटेन भी रास्ता दिखाने के लिए काफी होती है। स्त्री-जीवन के सरोकारों से संबंद्ध कुछ लालटेनें हमारे सिनेमा के इतिहास में समय-समय पर जलती रही हैं। मधुर उन्हीं लालटेनों में से एक है। हिन्दी सिनेमा की यथार्थवादन परंपरा जो महबूब खान, विमल रॉय, कमाल अमरोही और मुजफ्फर अली से परवान चढ़ी, 'मदर इंडिया', 'पाकीजा', 'उमराव जान', जिसकी बेहतरीन उपलब्धियाँ हैं, उसी कड़ी में हम मधुर भंडारकर की 'चाँदनी बार', 'सत्ता', 'पेज-3', 'ट्रैफिक सिग्नल', 'फैशन', 'हीरोइन', आदि फिल्मों को देख सकते हैं। डॉ कांबले ने बिल्कुल ठीक लक्ष्य किया है कि मधुर की नायिकाएँ 'सुपर वुमन' नहीं हैं। वे अपने सभी संभव ताकतों और कमजोरियों के साथ पर्दे पर नजर आती हैं मधुर भंडारकर ने निम्न, मध्य और उच्च तीनों वर्गों की स्त्रियों की इच्छाओं, महत्वाकाक्षाओं, संघर्षों, भावनाओं को पर्दे पर मूर्त कर दिया है। मधुर का विषय अपने पूर्ववर्ती सिनेमा से बिल्कुल अलग है और निहायत समसामयिक है, निर्देशकीय ट्रीटमेंट भी महबूब खान या मुजफ्फर अली की तरह यूरोपियाई न होकर नितांत यथार्थवादी है, किन्तु मूल्यों की निरंतरता स्त्री को मनुष्य के रूप में अभिव्यक्त करने की जद्दोजहद यहाँ बनी हुई हैं। स्त्री, जो अब तक भारतीय समाज में और हिन्दी सिनेमा के अधिकांश में भी मनुष्यता की नागरिकता से वंचित रही है, उसे यह नागरिकता दिखाने की कोशिश है मधुर का सिनेमा। डॉ. कांबले ने मधुर भंडारकर के सिनेमा में यथार्थ और फैंटेसी का समन्वय देखा है। मैं उनके इस निष्कर्ष से सहमत नहीं हूँ। यह ठीक है कि मधुर 'मिडिल रोड सिनेमा' की ओर जाते हैं, उनके यहाँ कला और कमर्शियलिज्म का समन्वय है, पर है वह मूलतः यथार्थवादी सिनेमा ही। जिसे डॉ. कांबले 'फैंटेसी' कहते हैं, उसे मैं यथार्थ के साथ लिया गया निर्देशकीय छूट कहना पसंद करूँगा।

मधुर भंडारकर के सिनेमा की एक और बड़ी विशेषता है–उसकी स्त्री-भाषा। डॉ. कांबले ने इसका विशद विश्लेषण किया है। मधुर न सिर्फ सिनेमा का नया मुहावरा गढ़ते हैं, बल्कि वे इक्कीसवीं सदी में बनती हुई नई स्त्री-भाषा के सभी संभव रूपों से भी हमारा परिचय

कराते हैं। डॉ. कांबले का मानना है कि "मधुर भंडारकर के फिल्मों की स्त्री भाषा विद्रोहात्मक और प्रतिक्रियावादी है। उनके फिल्मों की स्त्री भाषा पुरुषसत्ता, परंपरा, अवसरवाद, पूँजीवाद के शोषण के स्वरूप को उजागर करती है और पितृसत्ता तथा पूँजीवादी व्यवस्था को चुनौती देती है। फिल्म में स्त्री का बोलना हमेशा उसके दायरे को बढ़ाता है। पुरुष, समाज, धर्म के निर्धारित मान्यताओं पर सवालिया निशान लगता है। उसका बोलना यथास्थितिवाद को चुनौती देता है।" मधुर भंडारकर की फिल्मों की स्त्रीभाषा के बारे में डॉ. कांबले का यह निष्कर्ष सटीक है।

अंत में, जब हम स्त्री के सरोकारों की बात करते हैं, तो हमारे सामने पहला प्रश्न होता है–स्त्री की बुनियादी जरूरतों और आकांक्षाओं का। यहाँ यह सतर्कता जरूरी है कि बुनियादी जरूरतों का अर्थ स्त्री के संदर्भ में रोटी, कपड़ा, मकान तक सीमित नहीं है। 'फैशन' की प्रियंका और 'हीरोइन' की करीना के पास ये तीनों सुविधाएें हैं, लेकिन यह काफी नहीं है। अपने जीवन को नियमित-निर्धारित करने की उसकी अपेक्षा, मनुष्यता की नागरिकता की आकांक्षा, उसका स्वाभिमान और उसकी भावनाओं का स्पेस उसकी जरूरतों में शामिल है। सवाल यह है कि आज की स्त्री आखिर पुरुष से चाहती क्या है? वैसा व्यवहार, जो एक दोस्त अपने दोस्त से चाहता है? एक राजा दूसरे राजा से चाहता है? वह प्रजातांत्रिक स्पेस, जहाँ वह बनाई न जाए, जहाँ उसका सहज विकास हो, जहाँ उसकी खुदमुख्तारी हो। स्त्री के प्रति यही दृष्टिकोण मधुर भंडारकर सिल्वर स्क्रीन पर प्रोजेक्ट करते हैं। डॉ. कांबले की पुस्तक निस्संदेह पठनीय है। विशेषकर सिनेमा के अध्येताओं व शोधार्थियों के लिए। अतिरिक्त विस्तार इस पुस्तक की एक बड़ी सीमा है, कई बार विषय से भटकाव भी, जिनसे बचा जा सकता था। दरअसल ये शोध-प्रबंध की सीमाएँ हैं, किन्तु शोध प्रबंध और पुस्तक के चरित्र में अंतर होता है। पुस्तक के रूप में प्रकाशन से पूर्व शोध-प्रबंधन उचित व निर्मम संपादन जरूरी होता है। किन्तु धान के साथ कुछ खर-पतवार भी उग आते हैं, इस तर्क के साथ पुस्तक की इन सीमाओं को नजरअंदाज किया जा सकता है।

अरबिन्द महाविद्यालय (प्रातः), मालवीय नगर,
दिल्ली विश्वविद्यालय, नई दिल्ली।

शिक्षा व्यवस्था की दरारें

(प्रेमपाल शर्मा से पत्रकार अनुराग की बातचीत)

मनोज कुमार

समीक्षक मनोज कुमार पेशे से कमला नेहरू कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय के हिंदी-विभाग में सहायक प्रोफसेर एवं इनकी रचनाएं प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में निरन्तर प्रकाशित।

समकालीन दौर में शिक्षा व्यवस्था सामाजिक-राजनीतिक संघर्ष के महत्वपूर्ण क्षेत्र के रूप में उभरी है। 1990 के बाद उठा निजीकरण के विरोध का स्वर थम गया है। अब सरकारी बनाम निजी स्कूल, शिक्षा के उद्देश्य, इसकी पद्धतियों पर बहसें चल रही हैं। चर्चित लेखक एवं विचारक प्रेमपाल शर्मा की साक्षात्कार-पुस्तक–'शिक्षा, भाषा और प्रशासन' इस बहस की ताजा कड़ी है। प्रेमपाल हिन्दी प्रदेश की समस्याओं से सीधे रूबरू रहे हैं। आजकल वे पुस्तकालय को गांव समाज में पहुंचाने की मुहिम भी चला रहे हैं। इस पुस्तक में वे शिक्षा जगत के बड़े दार्शनिकों के विचारों की रोशनी में इसके माध्यम, पद्धति शास्त्र, स्थितियों पर विचार कर रहे हैं, असमानता-आधारित समाज में शिक्षा की वास्तविक स्थिति को व्यापक समाज के समक्ष प्रस्तुत कर रहे हैं।

शिक्षा के माध्यम का सवाल तीसरी दुनिया के देशों के सामने ज्वलंत प्रश्न है। भारत में औपनिवेशिक आधुनिकता को शान से ढो रहे मध्य वर्ग के अंग्रेजी-प्रेम पर प्रेमपाल कहते हैं कि ग्रामीण एवं गरीब वर्ग से आये विद्यार्थियों में अंग्रेजी आतंक उत्पन्न करती है। इसकी वजह से बहुत सारे बच्चे पढ़ाई बीच में ही छोड़ देते हैं। अंग्रेजी एक माध्यम के रूप में मातृभाषा की कीमत पर लाद दी जाती है। अभिजात वर्ग में किसी भी तरह घुस जाने के लालची मध्यवर्ग चीन, जापान, कोरिया का उदाहरण नहीं देख पाते जहां मातृभाषा में पढ़ाई हो रही है और वे दुनिया के विकसित देशों में से हैं। वे बस्ते के बोझ की बातें करते हैं पर भाषाई बोझ की नहीं। शिक्षाविदों के विचार एवं अनुभव बार-बार यह कहते हैं कि विद्यार्थी अपनी मातृभाषा में ही बेहतर सीख पाता है। प्रेमपाल कहते हैं, "हमें विदेशी भाषाएं आनी चाहिए, अंग्रेजी भी, लेकिन कुछ ठहरकर। एक उम्र के बाद और भाषा के रूप में, न कि हर समय, हर जगह उच्च शिक्षा में भी, शोध में भी और दफ्तर में भी अंग्रेजी।" मातृभाषा को तिलांजलि देकर मानसिक दबाव में अंग्रेजी की रटाई शोध या तर्कसंगत वैयक्तिक विकास को कुंठित करती है। उन्होंने सुधीरचंद्र, न्यूगी वा थियोंगो के अनुभवों से अंग्रेजी के साम्राज्यवादी शोषणकारी रूप को प्रस्तुत किया है। थियोंगो के हवाले से उन्होंने नाइजीरिया की उस त्रासद घटना को याद किया है जहां स्कूलों में अंग्रेजी में असफल बच्चों के चेहरे पर पट्टी चेप दी जाती थी। उन्होंने हिन्दी से जुड़े वामपंथी बुद्धिजीवियों की भी आलोचना की है, "अफसोस की बात है कि वे हिन्दी के लेखक हैं, हिन्दी में लिखना-पढ़ना करते हैं लेकिन इसके बावजूद उन्हें अंग्रेजी में नोटिस निकालने में ज्यादा फख्र महसूस होता है।" प्रेमपाल गाँधी

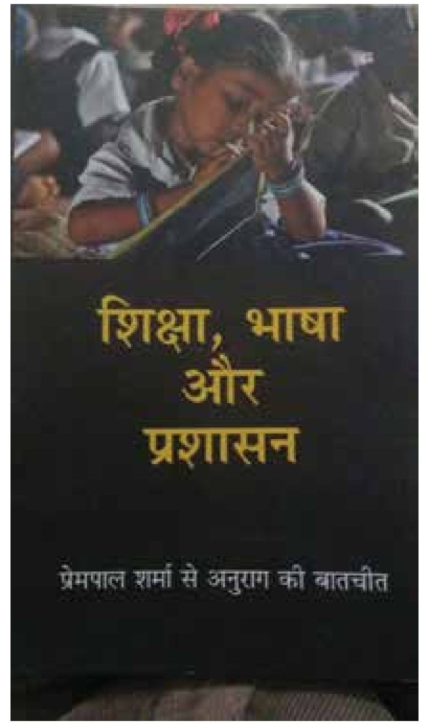

पुस्तक : शिक्षा, भाषा और प्रशासन

लेखक : प्रेमपाल शर्मा

प्रकाशक : लेखक मंच प्रकाशन, गाजियाबाद

मूल्य : 50 रुपये

के 'हिन्द स्वराज' और हिन्दुस्तानी को बार-बार संदर्भ बनाते हैं।

हमारी शिक्षा के उद्देश्य क्या हैं? साफ जवाब है, "एक बेहतर नागरिक बनाना। ऐसा नागरिक, जो अपनी मेहनत और

काबिलियत के बूते खा कमा सके, जिसके जीवन और आचरण में सबके लिए बराबरी का भाव हो, जो जाति, धर्म क्षेत्र से ऊपर उठकर समाज की बेहतरी के बारे में सोचने में समर्थ हो, संवेदनशील हो, तर्कशील हो, वैज्ञानिक सोच रखता हो।" बेशक आज की शिक्षा व्यवस्था असफल है, भयानक विडंबना की शिकार है, क्योंकि यह विद्यार्थियों में न आत्मविश्वास पैदा कर पा रही है न गुणवत्ता। कौन संतुष्ट हो सकता है ऐसी शिक्षा से जो करोड़ों बेरोजगार पैदा कर रही हो? लाखों इंजीनियर डिग्री लेकर निकल रहे हैं हर वर्ष, लेकिन यह इंजीनियरिंग शब्द का भी अपमान है। न इन्हें कील ठोंकनी आती है न बिजली का तार लगाना विडंबना यह है कि 'सर्टिफिकेट में फेल घोषित हर नागरिक देश की हर मशीन को चलाने की क्षमता रखता है। पढ़े-लिखे इंजीनियर नौजवान न घड़ी में सेल डाल पाते हैं, न ट्यूबलाइट लगा पाते हैं। कॉलेज उन्हें सिर्फ कागजों पर पढ़ाता-रटाता है, बिजली के सिद्धांत से लेकर रॉकेट, न्यूक्लियर बम के फार्मूले तक।" लेखक 'श्रम की महत्ता' की स्थापना करते हैं। किताब कोई और पढ़े और काम कोई और करे, इस द्वैतव को खत्म करना होगा।

प्रेमपाल सरकारी एवं निजी स्कूलों में विभाजित शिक्षा व्यवस्था को असमानता बढ़ाने वाली बताते हैं। वे सरकारी विद्यालयों के प्रबल समर्थक हैं। उनके मत में सरकारी विद्यालयों के खिलाफ कुछ ज्यादा दुष्प्रचार करके नौकरशाह और नेताओं-उद्योगपतियों ने अपने-अपने निजी स्कूल खड़े कर लिए हैं। उनके लिए शिक्षा मुनाफा निचोड़ने का माध्यम भर है। उनके पाठ्यक्रम भी प्रबंधन का कोई व्यक्ति लिखता है और महंगे दामों पर जबरन विद्यार्थियों पर थोपता है। दूसरी तरफ सरकारी विद्यालयों में एनसीएफ पाठ्यक्रम है जिसे बड़े शिक्षाविदों ने तैयार किया है। निजी स्कूलों के मध्य प्रतियोगिता एवं एडमिशन के लिए भारी बजट में दिमागहीन मध्यवर्ग को उत्पीड़ित किया है। ऐसे निजी स्कूलों में एडमिशन के लिए कैपिटेशन फीस, धक्का-मुक्की के साथ नेताओं मंत्रियों की सिफारिशों का तांता लगा जाता है। "इस पूरे खेल का मजा ले रहा है परपीड़क प्रबंधन, जिसके लिए शिक्षा कई धंधों में से एक है। उसका प्रबंधन कौशल बच्चे व टीचर दोनों को तनाव के अंतिम बिंदु तक व्यस्त रखने में है।"

वे अमेरिका, कनाडा और यूरोप की शिक्षा व्यवस्था का बार-बार हवाला देते हैं। वहां नेता, मंत्री, उद्योगपति से लेकर टैक्सी ड्राइवर और गरीब के बच्चे एक ही छत तले पढ़ते हैं। निजीकरण के किसी भी प्रयास का वहां तीव्र विरोध है। जबकि भारत में न केवल निजीकरण के खिलाफ कोई आन्दोलन नहीं है बल्कि मध्यवर्ग कई कारणों से निजीकरण को बढ़ावा दे रहा है। वे मान रहे हैं कि निजी स्कूल असमानता और वर्गीय, औपनिवेशिक प्रभुत्व को बनाये रखने का माध्यम है। "शायद वक्त आ गया है कि हम निजी स्कूलों के दरवाजे पर धरने दें और शिक्षा नीति के नियंताओं पर सरकारी स्कूलों में व्यवस्थाएं ठीक करने का दबाव डालें।" उन्होंने रवीन्द्रनाथ टैगोर के शब्दों को उद्धृत किया है, "हमारी पाठशालाएं जेल बन चुकी हैं जहां आने से बच्चे डरते हैं।"

शिक्षा पद्धति के संदर्भ में 'समाज कुछ, शिक्षा कुछ' के अलावा प्रेमपाल शर्मा का प्रश्न है, "क्या बेईमानी का पहला पाठ बच्चा नकल से नहीं सीखता?" याद किया जाना चाहिए बिहार, यूपी, हरियाणा के स्कूलों के बाहर खड़े लोगों का हजूम, जो पैसा या तमंचे के दम पर अपने बच्चों को नकल करवाना चाहते हैं। नकल का तर्क गलाकाट प्रतियोगिता की चूहा-दौड़ से जुड़ता है। यह प्रतियोगिता रटंत प्रणाली पर आधारित कोचिंग सेंटर या निजी स्कूलों की आतंकवादी परीक्षा प्रणाली से जुड़ता है। सीधी सी बात है कि नकल और रटंत के सहारे आगे बढ़े बच्चों को कौन सी नैतिक शिक्षा ईमानदार बना सकती है? रटंत सामंती प्रणाली भी हे जो विवेक की हत्या करती रही है। ये सारी प्रवृत्तियां निजीकरण और गलाकाट प्रतियोगिता की देन हैं। इन पर तुरंत अंकुश जरूरी है।

प्रेमपाल शर्मा पुस्तक पढ़ने की संस्कृति पर बल दे रहे हैं। परिवार में पुस्तक पढ़ने की संस्कृति बालक-बालिका को अच्छे संस्कार देती है, खुद समझने की आदत विकसित करती है। "ये किताबें चुपके से समानता का दर्शन सिखाती हैं, जाति तथा धर्म के भेद को नकारती हैं और तर्कक्षमता बढ़ाकर वैज्ञानिक सोच पैदा करती हैं।" एक हालिया प्रकाशित सर्वे के अनुसार परिवार में पुस्तक पढ़ने की संस्कृति बच्चों में संवेदनशीलता और आत्मनिर्भरता विकसित करती है।

वे कॉमन स्कूल सिस्टम के हिमायती हैं। कनाडा की तर्ज पर ऐसे स्कूल की वकालत करते हैं जहां समाज के सभी वर्गों के लोग हों, भाषा, बोली, संस्कृति की विविधता हो। अनुभव और परिवेश के प्रति जागरूकता और हिस्सेदारी हो। प्रसंगवश, दिल्ली विश्वविद्यालय में चार साला अंतर्गत फाउंडेशन कोर्स में ऐसी कोशिश दिखती है, विद्यार्थी को अपने परिवेश के प्रति जागरूक करने की, विविध अनुभवों को शेयर करने की, सामूहिक कार्य संस्कृति विकसित करने की पहल दिखती है। नये पाठ्यक्रम की बहुत सारी आलोचनाएँ हैं पर इस खूबी को बढ़ावा दिया जाना चाहिए।

प्रेमपाल डॉक्टर दौलत सिंह कोठारी आयोग की बार-बार सराहना करते हैं जिन्होंने भारतीय भाषाओं को लोक

सेवा आयोग की परीक्षाओं में स्थान दिलाया और समानतामूलक शिक्षा-प्रणाली की वकालत की। उन्होंने कृष्ण कुमार, गिजुभाई, थियोंगो, गाँधी, रवीन्द्रनाथ टैगोर जैसे शिक्षाविदों को उद्धृत किया है। एकलव्य, दिगंबर, बोध, समांतर जैसी संस्थाओं का हवाला दिया है जो शिक्षा के क्षेत्र में बेहतरीन प्रयोग कर रहे हैं। विद्यार्थियों के लिए इनके प्रकाशन विशिष्ट हैं।

यह पुस्तक वैश्वीकरण के दौर की अमानुषिक, व्यक्ति केन्द्रित, हिंसक और असंवेदनशील हो चुकी संस्कृति को निशाना बनाती है। उस षड्यंत्र को महान विचारों की रोशनी में बेनकाब करती है जिसके तहत सरकारी विद्यालयों को नकारा बताया जा रहा है, एनसीएफ-2005 की अवहेलना की जा रही है। बदले में मुनाफाखोरी पर आधारित बिकाऊ निजी शिक्षा को परोस रही है। इस षड्यंत्र में नेता, मंत्री और उद्योगपति शामिल हैं। सबसे महत्वपूर्ण है कि विचार प्रेमपाल शर्मा हिन्दी प्रदेश के अपने अनुभवों की रोशनी में निष्कर्ष प्रस्तुत कर रहे हैं, दूरदराज के गाँवों में टाट पट्टी वाले स्कूलों का मुआयना करने के बाद विचार कर रहे हैं। उनके निष्कर्षों के पीछे अनुभव की कई बानगियां हैं जो पुस्तक को बेहद पठनीय बनाती हैं। यह किताब शिक्षक, अभिभावक, माँ, नौजवान, पत्रकार सबके लिए समान रूप से उपयोगी है। समान और कौशल आधारित शिक्षा वह क्षेत्र है जो आने वाले दिनों में संघर्ष का एक क्षेत्र बनेगा, जन आंदोलन का मुद्दा बनेगा। आम लोगों के लिए यह एक 'आई ओपनर' है।

271, पैराडाइज अपार्टमैंट,
सैक्टर-21, रोहिणी, दिल्ली-110085

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्

सदस्यता शुल्क फार्म

प्रिय महोदय,

कृपया गगनांचल पत्रिका की एक साल/तीन साल की सदस्यता प्रदान करें।

बिल भेजने का पता

....

....

....

....

पत्रिका भिजवाने का पता

....

....

....

....

विवरण	शुल्क	प्रतियों की सं.	रुपये/US$
गगनांचल वर्ष	एक वर्ष ₹ 500 (भारत) US$ 100 (विदेश) तीन वर्षीय ₹ 1200 (भारत) US$ 250 (विदेश)		
कुल	छूट, पुस्तकालय 10% पुस्तक विक्रेता 25%		

मैं इसके साथ बैंक ड्राफ्ट सं. .... दिनांक ....

रु./US$ .... बैंक ....

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्, नई दिल्ली के नाम भिजवा रहा/रही हूं।

कृपया इस फार्म को बैंक ड्राफ्ट के साथ
निम्नलिखित पते पर भिजवाएं:
कार्यक्रम अधिकारी (हिंदी)
भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्
आजाद भवन, इंद्रप्रस्थ एस्टेट,
नई दिल्ली-110002, भारत
फोन नं. - 011-23379309, 23379310

हस्ताक्षर और स्टैंप...

नाम...

पद...

दिनांक...

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्

प्रकाशन एवं मल्टीमीडिया कृति

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् का एक महत्वाकांक्षी प्रकाशन कार्यक्रम है। परिषद् पांच भिन्न भाषाओं में, एक द्विमासिक–गगनांचल (हिंदी), दो त्रैमासिक–इंडियन होराइज़न्स (अंग्रेजी), तक़ाफत-उल-हिंद (अरबी) और दो अर्ध-वार्षिक–पेपेलस डी ला इंडिया (स्पेनी) और रेन्कोत्र एवेक ला ऑद (फ्रांसीसी), पत्रिकाओं का प्रकाशन करती है।

इसके अतिरिक्त परिषद् ने कला, दर्शन, कूटनीति, भाषा एवं साहित्य विभिन्न विषयों पर पुस्तकों का प्रकाशन किया है। सुप्रसिद्ध भारतीय राजनीतिज्ञों व दार्शनिकों जैसे महात्मा गांधी, मौलाना आजाद, नेहरू व टैगोर की रचनाएं परिषद् के प्रकाशन कार्यक्रम में गौरवशाली स्थान रखती हैं। प्रकाशन कार्यक्रम विशेष रूप से उन पुस्तकों पर केंद्रित है, जो भारतीय संस्कृति, दर्शन व पौराणिक कथाओं, संगीत, नृत्य व नाट्यकला से जुड़े होते हैं। इनमें विदेशी भाषाओं जैसे फ्रांसीसी, स्पेनी, अरबी, रूसी व अंग्रेजी में अनुवाद भी शामिल हैं। परिषद् ने विश्व साहित्य के हिंदी, अंग्रेजी व अन्य भारतीय भाषाओं में अनुवाद की भी व्यवस्था की है।

परिषद् ने भारतीय नृत्य व संगीत पर आधारित डीवीडी एवं सीडी के निर्माण का कार्यक्रम भी आरंभ किया है। अपने इस अभिनव प्रयास में परिषद् ने ध्वन्यांकित संगीत के 100 वर्ष पूर्ण होने के अवसर पर दूरदर्शन के साथ मिल कर ऑडियो कैसेट एवं डिस्क की एक शृंखला का संयुक्त रूप से निर्माण किया है। भारत के पौराणिक बिंबों पर ऑडियो सीडी भी बनाए गए हैं।

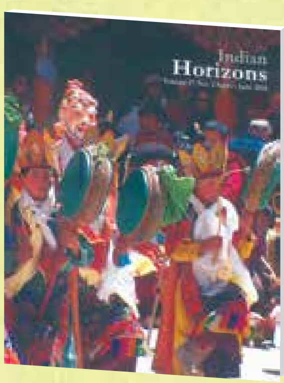

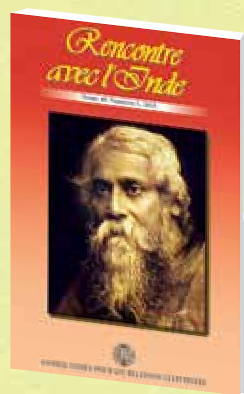

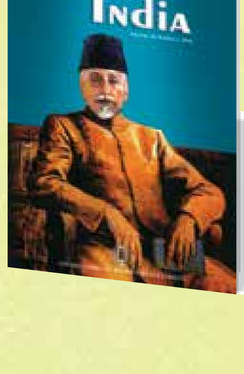

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् के प्रकाशन

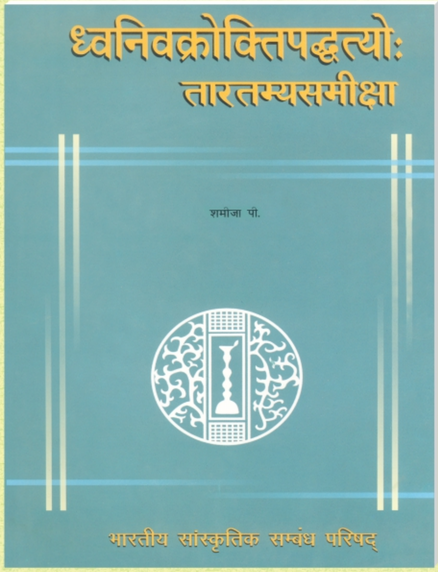

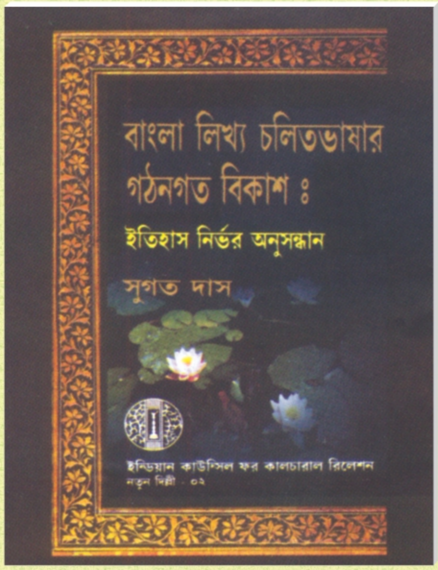

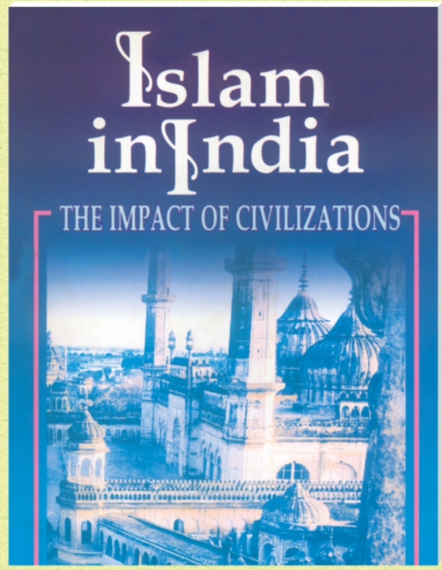

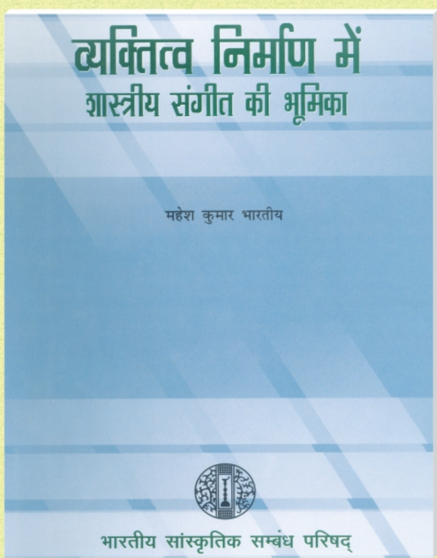

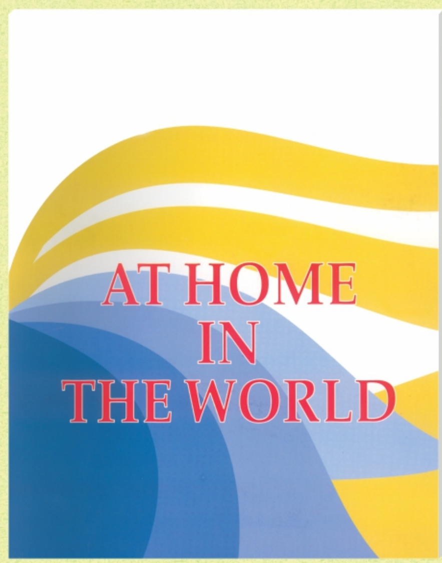

पंजीयन संख्या, आर. एन./32381/78
ISSN - 0971-1430

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद् के प्रकाशन

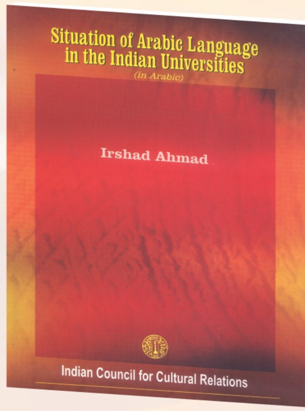

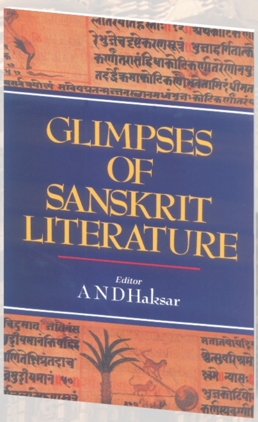

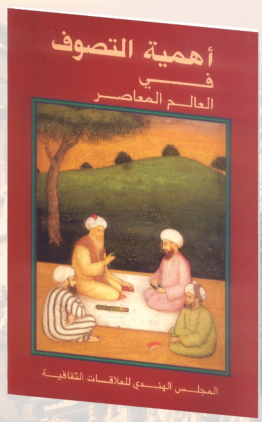

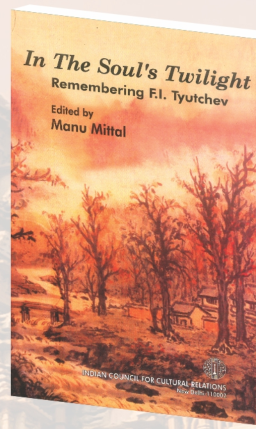

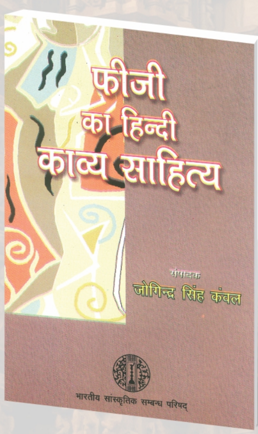

Indian Council for Cultural Relations
भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्

भारतीय सांस्कृतिक संबंध परिषद्

फोनः 91-11-23379309, 23379310
फैक्सः 23378639, 23378647, 23378783
ई-मेलः pohindi.iccr@nic.in
वेबसाइटः www.iccr.gov.in